❀ हरि ओ३म् तत्सत् ❀

सहज-मार्ग

SAHAJ-MARGA

वर्ष १ अंक ३

श्री रामचन्द्र मिशन (शाहजहांपुर), यू० पी०

SHRI RAMCHANDRA MISSION

SHAHJAHANPUR (U. P.)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाला

किशनलाल अग्रवाला

गजानन्द अग्रवाला

वार्षिक मूल्य ३)] [एक अंक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन शाहजहांपुर ❀ ब्रांच तिनसुकिया (आसाम)

(१) आध्यात्मिकता एवं गुप्त अनुभवी रहस्यों को सरल भाषा द्वारा जनता तक पहुँचाना 'सहज-मार्ग' का मुख्योद्देश्य होगा।

(२) 'सहज-मार्ग' में आत्मिक, सामाजिक तथा शारीरिक उन्नति के लेख ही छापे जावेंगे। राजनैतिक तथा अश्लील लेख भेजने का कोई सज्जन कष्ट न करें।

(३) पत्र-व्यवहार के लिये 'सहज-मार्ग' कार्यालय, तिनसुकिया (आसाम) याद रखें।

(४) लेखों के घटाने-बढ़ाने और छापने न छापने का अधिकार सम्पादक को रहेगा। परन्तु लेखों में प्रकाशित मत के लिए सम्पादक उत्तरदाता न होगा। लेख सरल भाषा में कागज के एक तरफ ही साफ-साफ लिखें हों।

(५) ग्राहकों को पता साफ-साफ लिखना चाहिये, और साथ ही ग्राहक नम्बर भी लिख देना चाहिये उत्तर के लिये टिकट भेजना उचित है।

(६) 'सहज-मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) रु० है। एक वर्ष से कम ग्राहक नहीं बनाये जावेंगे।

विषय-सूची

क्रम-संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
(१)	प्रार्थना		१
(२)	एक तिनसुकिया (आसाम) के अभ्यासी के पत्र की नक़ल		२
(३)	पत्रोत्तर श्री रामचन्द्र जी महाराज		३
(४)	"श्री गुरुदेव को सादर अर्पित" (कविता)	-श्रीमती मिथलेश सक्सेना	४
(५)	सहज मार्ग	—श्री ईश्वरसहाय जी	५
(६)	गीत	—कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	१२
(७)	जीवन में आध्यात्मिकता का विकास	—कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	१३
(८)	सिद्धावस्था के व्यवहार तथा सेवा के नियम	—श्री रामदास चतुर्वेदी एडवोकेट	२०
(९)	पूजा के दो रूप	—श्री काशीराम अग्रवाल	२६
(१०)	योग के विषय में कुछ बिखरे विचार	—श्री रघुनन्दनप्रसाद 'इन्द्र'	२८
(११)	सहज मार्ग के दस नियम		३४
(12)	The God.	— By Sri Ram Chandra Ji	35
(13)	Letter	- Sri M. K. Ganesan	37
(14)	Real Yoga.	-Sri Bhairon Prasad Srivastava	43
(१५)	श्री रामचन्द्र मिशन के सदाचार सम्बन्धी नियम	—श्री रामचन्द्र जी महाराज	

❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज-मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधतः

अर्थ—उठो ! जागो ! जब तक ध्येय प्राप्त न हो जाय, मत रुको !!

वर्ष १ संख्या ३ | जून, १९५७ JUNE. 1957 | वार्षिक मूल्य तीन रुपया

प्रार्थना

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

(श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहांपुर की दैनिक प्रार्थना)

एक तिनसुकिया (आसाम) के अभ्यासी के पत्र की नक़ल !

TINSUKIA((Assam)

Date 25. 5. 55.

मेरे परम पूज्य श्रद्धेय बाबू जी महाराज !

सादर चरण स्पर्श ! आपका पत्र ता० २१-५-५६ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ। मेरे भगवन, "अब जो अध्यात्मिक दशा है लिख रहा हूं" अब तो मुझे हर समय बेहोशी मालूम होती है। और संसार एक चुप-चाप सोया हुआ सा, सुनसान मालूम होता है, मानो ओझल हो चुका हो, समाप्त हो चुका हो ! जो पहले हलचल मालूम होती थी, एवं चलता, फिरता, बोलता हुआ संसार एक सनीमे के पर्दे के सदृश्य लगता है, कि चांद, तारे, सूर्य, समुद्र, नदियां, लाखों प्राणी केवल एक पर्दे में ही बसे हुये मालूम होते हैं, यह सब सुना (पढ़ा) करता, मगर प्रभुवर "अब प्रत्यक्ष आपने असली रूप की अनुभूति करा कर संसार का असली रूप दिखला दिया।" मेरे "प्रभुवर" अब तो संसार की जो तेज आवाज़ थी वह भी मध्यम सी लगती है और ऐसा लगता है कि मैं संसार से बहुत दूर हूं, अलग हूं ! और जो कुछ भी कार्य करता हूं न जाने किस नशे में रहता हुआ करता हूं। और ऐसा लगता है कि मैं चलता हूं या जो भी कुछ करता हूँ यह सब मैं स्वप्न में तो नहीं देख रहा हूँ या सचमुच मैं जागता हूँ, यह भी पता नहीं रहता जो आंखें केवल संसार का नक्शा मात्र देखा करती थीं, अब उन नेत्रों में एक "मालिक" के सिवा अन्य दूसरा कुछ भी देख नहीं पाता। जिधर भी जाता हूँ क्या करता हूं किसे देखता हूँ, किस से बातें करता हूं कुछ भी स्मरण नहीं रह पाता, सब भूल जाता हूं, मानों मैंने किसी से बातें ही नहीं कीं। और देखता भी क्या और किसे जब आखें रही ही नहीं, मानों पत्थरी लगी हुई हों, कुछ देख नहीं पाती। मानों आंख होते हुए भी वे आंख का अन्धा बन गया। "भगवन" आप की चरण रज (आपके बालक) की अगर कोई मान बड़ाई करता है तो अब पहले की भांति प्रसन्नता नहीं होती, क्यों कि अब तो समझ नहीं पाता कौन बड़ाई करता है और किस की बड़ाई करता है कौन प्रसन्न होता है। दुख सुख भी अब एक ही समान लगते हैं, अब न दुख होता है न सुख होता है, इस हालत को कैसे और क्या लिखूं कुछ लिखने में नहीं आता।

जो भय था, वह भी चला गया, अब निर्भयता रहती है, न शेरों का भय, न चीतों का, न मरने की तमन्ना, न जीने की तमन्ना, और अब मरा हुआ कह लीजिये। हर समय बने हुये इस नशे को देखता हूं तो समझता हूँ जब एक छोटे से शराब के प्याले की इतनी अधिक कीमत होती है, तब इस निराले, अलबेले, मस्ताने, या बेमस्ताने बनाने वाले नशे की क्या कीमत होगी, उसका मूल्य कोई चुका ही नहीं सकता।

भगवन, यह मालूम होते हुए भी कि संसार मुझे बहुत प्यार करता है, परन्तु मुझे तो ऐसा ही लगता है कि संसार सब मुझ से नाराज है और खुश है या नाराज यह भी ठीक से पता नहीं लगता, सब से पूंछा करता हूं कि भाई आप मुझ से नाराज तो नहीं हैं। और कभी २ हर मानव, हर प्राणियों

को गले से लगा कर चिपटाने को तबियत करती है। "प्रभुवर" न जाने अब तो यह दशा है कि मानों यह रचना मैंने ही रची है, जो भी कुछ देख रहा हूं यह सब मेरे ही दूसरे रूप हैं, सब आत्मा मेरी ही आत्मायें हैं। सब सतसंगी भाईयों को प्रणाम कहियेगा।

आप का चरण रज सेवक

(.....)

—०—

(पत्रोत्तर श्री रामचन्द्र जी महाराज)

॥ ओ३म् तत्सत ॥

SHRI RAMCHANDRA MISSION

SHAHJAHANPUR.

No. 2193/SRCM. Dated. 28—5—1955.

प्रिय भाई.....जी शुभ आशीर्वाद !

तुम्हारा २५-५-५५ का पत्र प्राप्त हुआ। मैं पिछले पत्र में लिख चुका हूँ कि तुम्हारी ब्रह्माण्ड मण्डल की सैर शुरू हैं, यह ठीक है, मगर यह सब हृदय देश (Heartregion) के अन्दर है। इस लिए इस को हृदय (Heart) ही की हालत कह सकते हैं। तुमने लिखा है कि हर समय बेहोशी रहती है, यह सुषुप्ति की अवस्था है जिस से मतलब यह है कि तुम अन्दर भिंदे हुए हो, और चूंकि तुम इस हालत के अभी आदी नहीं हुये हो, इस लिये नशा मालूम होता है। तुमने लिखा है कि संसार सब मुझ से नाराज मालूम होता है, तो संसार नाराज नहीं है बल्कि तुम्हारी निगाह बदल चुकी है और यह अच्छा है। अर्थात् तुम्हारी दुनिया अब और है। संसार को स्वप्नवत् समझ रहे हो यह तो बड़ी अच्छी हालत है, बड़े लोग यह कहते तो चले आये हैं कि संसार को स्वप्नवत् जानो, मगर यह Realization (अनुभव) हैं। और इस से मेरा मतलब यह है कि तुम्हें बाकई संसार की शक्ल ऐसी मालूम पड़ रही है जो वास्तव में है। हर प्राणियों से जो चिपटने की तबियत चाहती है यह प्रेम की फुरना है। भाई संसार की यह हकीकत (असलियत) है यह उसी बक़्त मालूम होती है कि जब अभ्यासी ऊपर चढ़ाई करता है। मनुष्य जितने ऊंचे पहाड़ पर चढ़ता जाता है तो वृक्ष धब्बे से मालूम होते हैं और फिर बहुत ऊंची चढ़ाई करने पर फिर नीचे की चीजें मालूम नहीं होती।

शुभ चिन्तक :—

राम चन्द्र

—*—

"श्री गुरु देव को सादर अर्पित"

श्रीमती मिथलेश सक्सेना देहली
(श्री रामचन्द्र मिशन की एक क्षुद्र सेवकिा)

श्री गुरु तेरे 'सहज मार्ग' पर, मैं सब कुछ तज जाऊं।
गु रुवरतब शुभ आशिष से ही, मैं सब कुछ पा जाऊं॥
रू प अनूप निरख प्रभु तेरा, सुधि-बुधि सब विसराऊँ।
दे ख देख तब शक्ति अपरिमित, चकित २ रह जाऊं॥
ब न जाऊं नहीं भस्म रमाऊं, मन्दिर भी नहीं जाऊं।
को ई ऐसा क्षण नहीं हो, जिस में तुम्हें भुलाऊं॥
सा वित्री से पूर्ण तुम्हारी, मंजुल सुस्मृति ध्याऊं।
द र दर भटकूं किन्तु अन्त में, शरण तुम्हारी पाऊं॥
र म जाय मन चरण कमल में, मधुकर सा बंध जाऊं।
अर् चन वन्दन में ही तेरे, जीवन सफल बनाऊं॥
पि ता मातु सब कुछ तुम ही हो, ऐसी शिक्षा पाऊं।
त ब चरणों में विनय 'पंक' है, भक्ति तुम्हारी पाऊं॥

सहज मार्ग

(लेखक:- श्री ईश्वर सहाय जी, लखीमपुर खीरी)

यह तो सब जानते ही हैं कि ईश्वर प्राप्ति की सबसे उचित विधि योग ही है परन्तु योग भी दो प्रकार के बताये गये हैं एक हठ योग दूसरा राज-योग वैसे तो महात्माओं ने कर्मयोग, भक्तियोग ज्ञानयोग इत्यादि अनेकों प्रकार के योग और भी कहे हैं जो मेरे विचार से उपरोक्त योगों के ही अंतर्गत बल्कि उनके ही अंग हैं। हठ योग में हम बाहरी अभ्यास और शारीरिक क्रियायों द्वारा तन मन पर प्रभाव डालते हैं और चक्रशुद्धि करते हुए उन दशाओं को प्राप्त करते हैं जिनकी अध्यात्मिकमार्ग में आवश्यकता होती है। राजयोग में हम अपनी विचार शक्ति से काम लेते हैं और उसी के द्वारा वह अध्यात्मिक दशायें जो आवश्यक होती उनको प्राप्त करते जाते हैं। हठ योग से चलने वाले अभ्यासियों को भी आवश्यक है कि अन्त में राज योग पर आवें तब ही अन्तिम ध्येय की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। हठयोग की अन्तिम पहुंच महात्माओं ने केवल आज्ञा चक्र तक ही बताई है और यह सत्य भी है अभ्यासी को इससे आगे ले जाने वाला मार्ग केवल राज योग ही है। इसी के द्वारा हम अपना अन्तिम ध्येय अर्थात ब्रह्म गति में स्थाई रूप से लय अवस्था प्राप्त कर सकते हैं।

सहज-मार्ग असल में कुछ विशेषताओं के साथ वही राज योग का रास्ता है। इसमें हम अपनी शक्ति द्वारा ईश्वरीय मार्ग में बढ़ते हैं। ध्यान या meditation इसका मुख्य अंग है। यही शुरू से आखीर तक जारी रहता है और कुछ आगे बढ़ने पर हमें समाधी की दशा पर पहुंचा देता है जो कि योग का आखिरी अंग है यों तो समाधी अवस्था की झलक अभ्यासी को शुरू ही से दृष्टि गोचर होने लगती है परन्तु इस दशा को पूरे तौर से अपना लेना इस प्रकार कि हर समय हर काम करते हुये चाहे वह दुनियाबी हो या ईश्वरीय, वही दशा छाई रहे। समाधी अवस्था की एक ऊंची हालत है। इसको महात्माओं ने सहज-समाधी कहा है।

ध्यान करने के लिए हम किसी स्थूल चीज का आधार नहीं लेते क्योंकि स्थूल चीज का ध्यान करने से हमारे अन्दर स्थूलता ही बढ़ती है जो कि हमारे अन्तिम ध्येय की प्राप्ति में बाधक होती है चूंकि हमारी आखिरी निगाह सूक्ष्मता की भी उस अन्तिम सीमा पर है जहाँ पर कि बस वही वह है और जो कि सम्भवता सूक्ष्मता की हद से भी परे है। इसलिए हमें उन्ही विधियों का प्रयोग भी करना है जो कि इतनी सूक्ष्म हो जितना कि सम्भव हो सके। चूंकि हमारा ध्येय ब्रह्म में लय-अवस्था प्राप्त करना है और चीज स्थूलता की हद से बिल्कुल परे है इसलिए स्थूल चीज ध्यान में लेने से हमारी ध्येय प्राप्ति में बाधा जरूर पड़ेगी। अब चूंकि ईश्वर अगोचर (abstract) है और शुरू में अगोचर का हमारे ध्यान में आना असम्भव है इसलिये हम शुरू में केवल अपने ख्याल के अट-काव के लिए ध्यान में कोई ऐसी चीज लेते हैं जो कि

महाराज ने तत्काल ही स्थिति को संभालने के लिये अपनी प्राण शक्ति द्वारा अर्जुन के मन को इस प्रकार बदल दिया कि माया मोह के विचार बदल गये और कर्त्तव्य पालन के विचार उनके अन्तर में प्रबल हो गये तथा वह युद्ध के लिये तत्पर हो गये।

गीता उपदेश कोई लम्बा चौड़ा व्याख्यान न था जिसको सुनकर अर्जुन के मन की दशा बदल गई जैसा कुछ साधारणतया कहा जाता है। यह इसी Transmission या प्राण शक्ति का चमत्कार था जिसके प्रभाव से अर्जुन वही सब दशायें अपने ऊपर छायी हुई देखने लगा यह बात Transmission के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से सम्भव न थी। यों तो अब भी गीता पढ़ते और सुनते जीवन ही व्यतीत कर देते हैं पर उनमें से कोई एक भी उस दशा को प्राप्त नहीं होता जो अर्जुन को प्राप्त हुई थी। कारण यह कि गीता सुनाने वालों ने ही वह दशायें प्राप्त न की हैं जिन्हें कि वह शब्दों द्वारा समझाते हैं और यदि प्राप्त भी की हों तो उनमें यह शक्ति कहां कि वह सुनने वालों के हृदयों में उन दशाओं को उतार सकें इसी कारण गीता के इस दैनिक पठन पाठन से वह प्रभाव नहीं पड़ता।

Transmission (प्राणाहुति) के द्वारा ही स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने क्षण मात्र में स्वामी विवेकानन्द को जैसा वह चाहते थे वैसा ही बना दिया था जिसका वर्णन उनकी जीवनी में मिलता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमारे धार्मिक इतिहास में विद्यमान है। इससे ज्ञात होता है कि यह पद्धति (प्राणाहुति) हमारे यहाँ बहुत काफी प्रचलित थी और इसी के द्वारा मनुष्य मात्र का उपकार होता था।

साधारणतया आजकल हमें यह देखने को मिलता है कि यदि हम ईश्वर प्राप्ति की इच्छा से किसी के पास जावें और उससे साधन पूछें तो वह हमको कुछ न कुछ ऐसा मानसिक या शारीरिक अभ्यास बता देता है जिनको अनेकानेक वर्ष पर्यन्त करने पर भी हम किसी परिणाम पर पहुंचते नहीं प्रतीत होते हैं। यदि हम इसके लिये कुछ शिकायत करते हैं तो हमें यही उत्तर मिलता है कि तुम मन लगाकर नहीं करते। लाभ तभी होगा जब मन लगाकर करोगे। और वास्तव में बात भी ठीक है। परन्तु भाई सच पूछा जाय तो समस्या तो कठिन यही है। यदि मन लगाने की सामर्थ्य ही हम में होती या मन ही हमारा पूर्णतया हमारे वश में होता तो फिर करना ही हमें शेष क्या रह जाता। हमारे कुल अभ्यास और परिश्रम का उद्देश्य तो यही है कि हम मन पर विजय प्राप्त कर लें। और इसी कठिन समस्या को हमी पर छोड़ दिया जाता है। और हमारा अध्यात्मिक शिक्षक हमें केवल कुछ बाह्य या आन्तरिक साधन बताकर अपने फर्ज से अदा हो जाता है और फिर परिणाम यह होता है कि हमारे सम्मुख असफलता ही आती है। सहज मार्ग की शिक्षा पद्धति में इस बात का दायित्व केवल अभ्यासी पर ही नहीं छोड़ दिया जाता है वरन् उस का अधिक भाग शिक्षक पर ही रहता है। अभ्यासी का काम तो केवल इतना ही रह जाता है कि वह शिक्षक के साथ पूर्ण सहयोग बनाये रक्खे।

हमारे सांसारिक जीवन की कठिनाइयों को देखते हुए यह बात समझ में आती है कि त्याग और तपस्या के कठिन साधनों को अपनाना साधारण लोगों के लिए असम्भव है। इसी कारण उनका विचार भी उस ओर नहीं जाता है। बस इतना ही ऐसे व्यक्ति पर्याप्त समझते हैं कि प्रति दिन मन्दिर में जाकर मूर्ति पर जल चढ़ा दें या कुछ पाठ या जप कर लें या और कोई इसी प्रकार के कोई साधन अपना लें और जीवन भर यही करते रहें। बस यही इन का प्रारम्भ और यही अन्त है। इसके आगे उनकी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। यदि इनमें से चन्द व्यक्ति ऐसे भी हुए जिन्होंने कुछ आगे बढ़ने का साहस किया और ज्ञान की ओर दृष्टि जमाई तो अहं ब्रह्मास्मि की रट लगाना प्रारम्भ किया और यह रटते रटते ही जीवन बिता दिया। भाई ज्ञान की दशाओं को किताब से पढ़ लेना और फिर उनको सदा रटते रहना ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं कही जा सकती है। यदि कोई रोगी औषधि खावे न, केवल नाम ही रटता रहे तो उसके लाभ की आशा कैसे की जा सकती है। लाभ तभी सम्भव होगा जब वह औषधि का प्रयोग करेगा। ज्ञान प्राप्ति के माने तो यह हैं कि हम किसी अवस्था को इस प्रकार अपना लें कि वह हमारे बाहर भीतर पूर्णतया भासमान हो जाये। एवं उसके विपरीत कोई बात हमारे मन में स्वप्न में भी न आवे। तब हम उस सीमा तक ज्ञानी कहे जा सकेंगे। इसके बाद उससे आगे वाली दशा को जब इसी प्रकार अपना लेंगे तब और अधिक ज्ञानी कहे जा सकेंगे।

सहज मार्ग की शिक्षा प्रणाली में Transmission के द्वारा अभ्यासी के मन का झुकाव ऊपर यानी ईश्वर की ओर कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि उसका रुझान सांसारिकता की ओर से मन्द पड़ने लगता है। और वह ईश्वर सम्बन्धी विचारों में अधिक निमग्न रहने लगता है। अर्थात् विवेक का बीज प्रारम्भ से ही पड़ जाता है जिसको वेदान्त का पहला साधन माना जाता है। हमारे यहाँ विवेक और वैराग्य को अलग साधन मानकर उनका अभ्यास नहीं कराया जाता है। वास्तव में तो विवेक और वैराग्य इन साधनों का परिणाम होना चाहिये जो कि हम करते हैं। अगर हमारे साधन से स्वयं ही विवेक का विकास हमारे भीतर प्रारम्भ न हो जावे तो इसे साधन की त्रुटि ही कहना चाहिये। इसी प्रकार विवेक का परिणाम अपने ही आप वैराग्य होना आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे साधन और अभ्यास का परिणाम आप ही आप विवेक का बढ़ना और फिर विवेक के बढ़ने के बाद वैराग्य का होना है। इसी लिए हमारे सहज मार्ग में इन्हें प्रथक साधन न मान करके अभ्यास का प्रारम्भ षट सम्पत्ति से होता है। वैराग्य के माने सांसारिक वस्तुओं से असम्बद्ध होना ही है। और यह मन की एक दशा है इस दशा पर पहुँच कर अभ्यासी के हृदय में सांसारिक वस्तुओं से लगाव कम हो जाता है तथा धीरे धीरे पूर्णतया समाप्त हो जाती है। इसके यह माने नहीं हैं कि हम सब कुछ छोड़ छाड़ कर जंगल की राह लें तभी वैराग्य की पूर्णता हो। वैराग्य तो वास्तव में वह

अवस्था है जबकि हम दुनिया में रहते हुए और सामाजिक दृष्टि से व्यक्तियों और सम्बन्धियों से और वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हुए भी हृदय से उस सम्बन्ध का बन्धन न अनुभव करें। और माया मोह में लिप्त न हों इस प्रकार उनसे दूर हो जाने पर हमको दुःख न हो। यह अवस्था प्राप्त कर लेना वास्तव में वैराग्य है और यह साँसारिक जीवन स्थायी रखते हुए सम्भव है। सम्बन्ध रखते हुए भी असम्बन्धित रहना ही वैराग्य की असल परिभाषा है। और गृहस्थ जीवन में ही अच्छे ढंग से प्रयोग में लाया जा सकता है। प्राणाहुति के द्वारा यह बातें अभ्यासी के अन्दर इस प्रकार उतार दी जाती हैं कि उसको पता भी नहीं चलता है और वह बिना जाने या समझे हुये संसार के सब काम करता हुआ इनसे अपने आपको मुक्त अनुभव करने लगता है यद्यपि वैराग्य की यह कठिन मंजिल सहज ही में पार होने लगती है मगर यह सब तब ही सम्भव है जब अभ्यासी के दिल में ईश्वर-प्राप्ति की सच्ची लगन हो और वह अपना लक्ष्य हासिल करने के लिए बेचैन रहे। बेचैनी और तड़प ही हमारा रास्ता आसान कर देती है और मालिक की याद हमारे दिल में ताजा रखती है यद्यपि इन बातों के पैदा करने की जिम्मेदारी अभ्यासी पर ही होती है और वास्तव में होना भी चाहिये। फिर भी प्राणाहुति द्वारा इसमें भी बहुत कुछ सुविधा पैदा कर दी जाती है जिससे कि अभ्यासी के लिये इन बातों को ग्रहण कर लेना आसान हो जाता है और यही उसकी तरक्की उन्नति का रास्ता बन जाता है।

मालिक का सतत् स्मरण ही आगे बढ़ कर भक्ति का रूप धारण कर लेता है जो कि ईश्वर प्राप्ति के लिए एक आवश्यक वस्तु है। प्रेम और भक्ति के द्वारा ही हमारा सम्बन्ध ईश्वर से दृढ़ जुड़ जाता है। ईश्वर का सतत् स्मरण हमारे दिल में प्रेम का भाव पैदा कर देता है और प्रेम ही भक्ति की नींव है। जब यह अवस्था प्रगाढ़ हो जाती है तो वह आधीनता के क्षेत्र में आ जाती है। यहाँ पर पहुँच कर वह असल माने में दास बन जाता है और दासत्व की सीमा से अभ्यासी को कभी बाहर न होना चाहिये अगर याद हृदय में स्थाई है तो समझ लीजिये कि मालिक आप के नजदीक है। ज्यूं २ याद तेज होती जाती है मालिक की नजदीकी बढ़ती जावेगी और इसी प्रकार प्रेम और भक्ति की वृद्धि होती जावेगी। भक्ति क्या है? हमारे पूज्य चरण महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़ निवासी ने एक अवसर पर प्रगट किया था कि भक्ति में तीन चीजें शामिल है। प्रथम ईश्वरीय नियमों का पालन दूसरे भाग्य पर प्रसन्न रहना तीसरे अपने अधिकार एवं अपनी कामनाओं को मालिक के अधिकार और इच्छा के आधीन कर देना। प्रगट है कि हृदय में अगर प्रेम और भक्ति का भाव स्थिति है तो यह तीनों बातें हमारे हृदय में स्वयं पैदा होने लगेंगी और हमारी दृष्टि और ख्याल उसी प्रियतम प्रभु पर टिक कर रह जावेगा।

प्रेम की अवस्था अधिक प्रगाढ़ होने पर बस यही अनुभव होता है कि वही हमसे प्रेम कर रहा है और वही हमारे प्रेम में बेकरार है यद्यपि एक मानी में प्रेमी प्रियतम बन जाता है और फिर प्रीतम,

खुद प्रेमी। इस अवस्था को उर्दू में महबूबियत की हालत कहा गया है। महात्मा कबीर दास ने इस को इस तरह बताया है—

मेरा राम मुझे भजै तब पाऊं विश्राम।

इससे आगे बढ़ने पर प्रेम का रुख और बदलता है और प्रेमी का जैसे होश ही ग़ायब रहने लगता है। हर समय वह अपने आप को इस प्रकार खोया हुआ सा पाता है और अपनी सुध बुध ही भूल जाती है। और इस से भी आगे बढ़ने पर प्रेम का गुमान भी नहीं रह जाता है। यहां तक कि स्वयं प्रियतम भी निगाह से ओझल होने लग जाता है। अब क्या रह गया? कौन प्रेम करता है और किस से? यह समझ में ही नहीं आता। बस प्रेम ही प्रेम रह जाता है। रह रह कर दिल में प्रेम की एक हूक सी उठकर रह जाती है। फिर वह भी मध्यम पड़ने लगती है और अंत में फिर बिल्कुल ओझल हो जाती है। अब क्या रहा? न प्रेम का पता है न भक्ति का मगर अन्दर तड़प अवश्य विद्यमान है। किस बात की तड़प? यह भी नहीं मालूम। बस अन्दर ही अन्दर यह गूंजने लगता है कि—

बिना भक्ति तारो तब तारिबो तिहारो है।

तात्पर्य यह कि प्रेम और भक्ति ……की हद कहां पर है इसका सही अनुमान लगाना आसान काम नहीं। बस चलते चले जाना है जहां तक मालिक की कोशिश ले जावे। इन दशाओं को मैंने बहुत संक्षेप में बतलाया है अगर इनका पूरा वर्णन किया जाता तो विषय बहुत अधिक विस्तृत हो जाता।

ऊपर वर्णन की गई जुमला हालतें अभ्यासी के साधन पथ में एक एक करके अवश्य आती हैं। और इनका मजा चखता हुआ आगे समर्पण की ओर बढ़ता चला जाता है। समर्पण का प्रारम्भ यों भक्ति के साथ ही हो जाता है मगर अब यहां पर पहुँच कर अभ्यासी का अपना कुछ नहीं रह जाता जो कुछ उसके पास था उसने मालिक के सिपुर्द कर दिया। अब वह एक दीन भिक्षु की हैसियत से इस बड़े दरबार में हाथ फैलाए हुए है। माँगने का भी प्रश्न नहीं है। इतना चुप है वह। दे दे तो वह प्रसन्न और न दे तो वह प्रसन्न इस अवस्था में पहुँच कर वह वास्तव में मनुष्य नहीं रह जाता। उसकी दशा मृतक की भाँति हो जाती है। और वह प्रत्येक कार्य मशीन की भांति मालिक की इच्छा से करता जाता है। इस हालत में आने पर अपना कर्म समाप्त हो जाता है अथवा अकर्त्ता के पद को प्राप्त कर लेता है। जो काम उसके द्वारा किया जाता है वह उसके फल का भागी नहीं होता यहां पर संस्कारों का भी बनना बन्द हो जाता है। और यहाँ पर हमारे अध्यात्मिक पथ की एक बहुत बड़ी मंजिल तै हो जाती है। अब शेष क्या रह गया? बस पुराने संस्कारों के भोग को पूरा करना जब संस्कारों का बनना बन्द हो जाता है तो समझिये उनका बढ़ना समाप्त हो जाता है। तो फिर पूर्व संस्कारों के भोग में भी अधिक समय नहीं लगता है। इनका भोग पूरा होने पर समझिये हम मोक्ष के द्वार पर पहुँच गये।

इस लेख के द्वारा यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि किस प्रकार सहज मार्ग की शिक्षा प्रणाली में प्राणाहुति की सहायता से एक अभ्यासी कुल आध्या-

त्मिक सीढ़ियां आसानी से पार करता हुआ मोक्ष के द्वार तक पहुँच जाता है। यद्यपि हमारी दौड़ धूप वहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है इसके बाद भी बहुत कुछ शेष रह जाता है। परन्तु आगे की बातों को इस समय न लेकर विषय को समाप्त करता हूँ।

॥ ओ३म् शान्तिः ॥

❀ गीत ❀

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

मेरे बाबू जी महाराज !
नैनों में तुमको ही बसाऊँ, श्वाँस २ की गति में पाऊँ,
वानी के जु सुहाग ॥ मेरे बाबू जी महाराज
कर्ण-कुहर में ध्वनि यह पाऊँ, ओङ्कार के बीच रमाऊँ,
निशिदिन याही काज ॥ मेरे बाबू जी महाराज
आवे पथिक ताहि ले आऊँ, 'बाबू' के संदेश सुनाऊं,
पायो अविचल राज ॥ मेरे बाबू जी महाराज
घर न समाऊं बाहर न जाऊं, जोगिन भोगिन कोऊ कहाऊं,
भक्ति-दान देउ आज ॥ मेरे बाबू जी महाराज
नाच नाच के ताहि रिझाऊं, 'सन्ध्या' यह संगीत सुनाऊं,
पूरन-ब्रह्म सिरताज ॥ मेरे बाबू जी महाराज

जीवन में आध्यात्मिकता का विकास

(लेखिका:-कुमारी कस्तूरी, चतुर्वेदी)

जीव ईश्वर से सम्बन्धित ही नहीं वरन् उसका एक अंश ही है। क्योंकि जीव में आत्मा के रूप में एवं पांच तत्वों के रूप में ईश्वरीय-प्रकाश का विकास सदैव उपस्थित है और वही जीव का एक मात्र अवलम्ब है। यह और बात है कि हम उसे मानें अथवा न मानें, जानें या न जानें क्योंकि प्रथम किसी वस्तु को मानना ही जानने की शक्ति को गति प्रदान करता है अथवा जानने की शक्ति में विकास की स्फुरणा उत्पन्न कर देता है जिसे बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण विश्व अथवा सृष्टि में एक चेतन, अमल, सहज सुख-स्वरूप एक ही चेतन शक्ति व्याप्त है किन्तु फिर भी सबके अन्दर एक समान ही बुद्धि तथा एक समान ही स्वभाव तथा एक समान ही आचार-विचार नहीं होते हैं जबकि हमारे विकास का स्तम्भ एक ही है दूसरा नहीं। इसका भी एक कारण है और वह भी एक प्रमाणित कारण है। वह यह है कि जैसे सम्पूर्ण विश्व में एक चेतन, अमल व सहज सुख-स्वरूप चेतन-शक्ति व्याप्त है किन्तु उस का सदुपयोग हर जीवधारी समान रूप से नहीं कर पाता। निर्माण-शक्ति केवल एक ही है किन्तु प्रति रूप में अन्तर होता है। दो समान प्राणी संसार में मिलना कठिन हो जाता है। इसका एक ही कारण ज्ञात होता है वह यही है कि ईश्वरीय-शक्ति जो सृष्टि के सृजन का कारण बनी उसका Focus जहां जितना व्याप्त हुआ तो उसमें वैसी ही चेतना की वृद्धि हुई तथा वैसा ही उसका विकास दृष्टिगत होता गया। उस ईश्वरीय-शक्ति के Focus के जो जितना निकट हुआ उतनी ही इसमें सहज चेतना सम्मलित हो गई उतना ही उसका विकास हो गया किन्तु जो जितने ही इस शक्ति से दूर पड़ते गये उतनी ही उनके विकास में न्यूनता होती गई। और बुद्धि में जड़ता आती गई। एक ही संसार में विभिन्न स्वरूप के जीव-जन्तु वृक्ष आदि सब इस बात के उदाहरण हैं। समय के साथ ही साथ शक्ति का प्रयोग करते करते जैसे जैसे हमारी शक्ति क्षीण पड़ती जाती है हम ह्रास की ओर बढ़ते जाते हैं विभिन्न कार्यों के कारण स्वरूप ज्यों ज्यों हम उस शक्ति को प्रयोग कर सकने में असमर्थ होते जाते हैं वैसे ही वैसे हम ह्रास अथवा मृत्यु के निकट पहुँचते जाते हैं क्योंकि जिस प्रकार यंत्र प्रयोग में लाते लाते बेकार होता जाता है, उसके पुर्जे घिस कर ठप होने लगते हैं और उनको सुधारने पर भी एक दिन उसकी अविध आ ही जाती है, जिस प्रकार रोग की प्रारंभिक अवस्था में रोगी की सुश्रुषा, औषधि आदि उसको कुछ आराम पहुंचा सकने में ही सहायक हो सकती हैं किन्तु जब रोग से हर पुर्जा बेकार हो चुकता है तब कुछ भी काम नहीं देता और उसकी इतिश्री हो जाती है। उसी प्रकार जीवन भी विकास का एक अंग ही है। बिना विकास के जीव में जीवन की स्फुरणा ही उत्पन्न नहीं हो सकती। माता के उदर में स्थित एक पिंड केवल उस चेतन-शक्ति के द्वारा ही विकास पाकर वृद्धता एवं सुडौलता को प्राप्त हो जाता है जो कि उसे माता के द्वारा बराबर मिलती रहती है। उसका माध्यम माता ही होती है इस लिए कुछ न कुछ प्रभाव उसकी हर बात का,

स्वभाव, सुन्दरता, गुणों एवं अवगुणों का भी सम्पुट रूप में उस पिंड के अन्दर प्रवेश करता रहता है अथवा उसके विकास की उस श्रेष्ठ, पावन शक्ति में माध्यम द्वारा यह बेकार बातें भी उसके अन्दर प्रवेश कर जाती हैं जो कि आगे चल कर उसके विकास के साथ ही साथ क्रमशः विकास में आने लगती हैं। कभी कहते हैं कि जैसे माता-पि वैसा ही पुत्र है। जैसा गुरू है वैसा ही शिष्य है। हां यह बात शेष रह जाती है जो फिर हमारे ऊपर निर्भर है कि आगे चल कर हमारी बुद्धि को यदि सत्संग का प्रभाव मिलता है तो वह कुल चेतन-शक्ति उन गुणों के विकास की ही ओर अग्रसर हो जाती है। और कुसंग के कारण कुसंग की ओर अग्रसर हो जाती है। सत्संग अथवा कुसंग न केवल मनुष्यों के ही साथ का होता है वरन् शिक्षा व पुस्तकें अथवा वातावरण भी उसमें पूर्णरूप से सम्मिलित रहता है। यद्यपि यह सब वाह्य ढंग व रीति केवल उसकी चाह अथवा कामना को एक पावन रूप में जाग्रत करने में सहायक बनती हैं किन्तु चाह अथवा रुचि के अनुरूप ही उसका बौद्धिक-विकास होता है। किन्तु इससे आगे बढ़ने पर बौद्धिक विकास ही उसकी रुचि में प्रकाश भरता जाता है जो कि उसकी उन्नति या अवनति का कारण बन जाती है।

उन्नति के अर्थ हैं आगे बढ़ना अर्थात् उस सर्वोपरि, पावन चेतन-शक्ति जो ईश्वर है उसकी ओर अग्रसर होते जाना और अवनति है पीछे हटना अर्थात् उस चेतन शक्ति को पीठ दे देना है। उन्नति में प्रकाश है और अवनति में अंधेरा क्योंकि उन्नति उस निरन्तर शाश्वत प्रकाश से सम्बद्ध करता है और अवनति उससे ओझल करता है। कहने का तात्पर्य यही है कि विकास को प्राप्त करने के लिए, उसकी ओर अग्रसर होने के लिए हमें शुद्ध चाह की आवश्यकता होती है और उसे जाग्रत करने के लिये चाहिये जाग्रति लाने वाला। अर्थात् अब दो समान रूप हमारे सामने 'दुई' के रूप से आ गए और यह न होते यदि 'मैं' न उत्पन्न होता [illegible] यदि हम जीवन में ही [illegible] सर्वोपरि सर्वशक्तिमान सबके कारण रूप [illegible] से पृथक न होते। किन्तु नहीं जो पृथक [illegible] वह पुनः सम्बन्धित भी हो सकता है। सुबह [illegible] यदि शाम को आ जाए तो भूला नहीं कहा [illegible] "बस इस के लिए मुख्य बात यही है कि हम विचारों द्वारा ही अपने अस्तित्व से पृथक होते हैं और विचारों द्वारा ही हम उसमें पुनः लय भी हो जाते हैं। निज बौद्धिक विचार हमें हमसे पृथक करते हैं और ईश्वर [illegible] बौद्धिक विचार अर्थात् Supper Mind से संबंधित विचार हमें पुनः उस में जोड़ देते हैं। हम एक से अनेक हो सकते हैं तो अनेक से एकता को भी प्राप्त कर सकते हैं। वह इस प्रकार कि निज विचारों की लड़ी को ईश्वर से सम्बन्धित कर दें एक क्षण को भी एक भी विचार में 'उससे' एकता का आभास भी न आने दें। प्रत्येक कार्य को कारण (ईश्वर) से ही सम्बन्धित रहने दें। वृथा का बोझ ढोने से लाभ ही क्या? कैसी हास्यप्रद बात है कि यदि हमें कोई 'गधा' कह देता है तो हमें गाली लग जाती है परन्तु उसकी ही भांति बोझ ढोने में मानों हमारा कुछ बिगड़ता ही नहीं। चाहिये तो यह था कि नाव पानी पर तैरती परन्तु होता यही है कि जल नाव को ही डुबोये रहता है

क्योंकि हम अपनी बौद्धिक नाव को जिस से हमें यह अथाह भवसागर पार करना था उसे निज विचार-सरनी द्वारा इतनी महान शक्ति-केन्द्रित-पोत से न बाँध सके जिस के सहारे छोटी २ अनगिनत नौकाएं भी सागर को तिर जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि हम अपनी दृष्टि-रज्जु को बाह्य पसारे की ओर से समेट कर अपने हृदय पर केन्द्रित कर लें पड़ती हृदय को विचार द्वारा ईश्वरीय प्रकाश के [illegible] ति सम्बन्धित कर दें कि एक क्षण को भी उस [illegible] आलोक लोप न होने दें तो वास्तव में इसके द्वारा [illegible] को अपनी बौद्धिक-नाव को खींच कर दैहिक, दैविक भौतिक तापों से रहित मानसिक-महान-समुद्र के मोती चुगने में समर्थ बना देते हैं। तब [illegible] होता है? जिसे हमने अबतक ईश्वर माना है उसका हमें कुछ ज्ञान अथवा आभास होने लगता है और फिर उसमें हमारी जिज्ञासु-शक्ति केन्द्रित हो जाती है जो कि हमारे अंतःकरण में 'श्रद्धा' नाम से विकास पाती है। इधर हमें उसमें रहते रहते एक रस की रसानुभूति होने लगती है जो कि पनपते पनपते प्रेम के विकास रूप में हमारे निज के अनुभव में घर करती जाती है। उधर उस महत् से सम्बन्धित होते २ हमारे अन्तर में एक प्रकार की दृढ़ता कण-कण में पैठती जाती है जो कि आगे चल कर अटल विश्वास की प्रतिमा के रूप में विकास पाती है। अंतर में दृष्टि स्थिर करते करते उस के ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं अथवा यों कहिये कि जहां उसने अपना ठिकाना बनाया वहाँ उसे फिर अपने अनुरूप ही अनुपम क्षेत्र मिलता जाता है और इसी को दृष्टि में फैलाव आना कहते हैं। उसकी संकुचित दृष्टि का बन्धन मिटता जाता है और सहज रूप का पसारा होता चलता है क्योंकि जहाँ विचारों का बन्धन नहीं वहां फिर क्या है? केवल पसारा ही पसारा। किन्तु उस पसारे में उसका 'मैं' सम्मिलित नहीं होता। फिर तो कुल Universe उसका अपना ही कुटुम्ब होता है और उसे सबसे सहज प्रेम होता है जिससे उसका व्यवहार समान रूप से सब के हृदयों को जीत लेता है। उसकी दृष्टि में छोटा-बड़ा नहीं, मान-अपमान नहीं, ऊंच-नीच नहीं। सब उसकी प्रेम की रज्जु में बंध कर उसके इशारे पर नाचते हैं और वह स्वयं भी सबके चरणों में झुका अबोध शिशु की भाँति विचरण करता है। एक ओर तो वह प्रेम की सजीव प्रतिमा ही होता है और दूसरी ओर उसका हृदय पवित्र, सुदृढ़ वैराग्य की भांति बन जाता है क्योंकि उसका लक्ष्य है चिरन्तन में लयलीन रहना। फिर राग कहां, वैराग्य कहां, संसार कहां और शरीर कहाँ? उसके तो जन्म-जन्मान्तरों से बिखरे संस्कार रूपी कण-कण एकत्रित हो कर अपनी आँतरिक दृष्टि की स्थिरता के कारण आ आकर परम लक्ष्य प्रियतम ईश्वर में स्वतः ही समाते चले जाते हैं फिर उस बेपते का पता ही क्या, उस बे ठिकाने का ठिकाना ही क्या। क्रिया कहां और उस का बन्धन कहाँ। पंजाबी संत कवि बुल्लेशाह का जो इश्क (प्रेम) और शरह (धर्म-कर्म के कायदे) का झगड़ा है वह पंजाबी साहित्य की एक अमर कला कृति बन चुका है। उनके ही शब्दों में मैं लिखती हूँ:—

इश्क शरह दा झगड़ा पै गयो,
मन दा भरम मटावां मैं।
सवाल शरह दे जवाब इश्क दे,
हजरत आंख सुनावाँ नूं॥

शरह कहे चल पास मुल्ला दे,
सिख ले अदब अदाबां नूं ।
इश्क कहे एक हर्फ़ बत्थेरा,
ठप रख होर किताबां नूं ॥
शरह कहे करपंज अशनाना,
आ लग मन्दर पूजा दे ।
इश्क कहे तेरी पूजा झूठी,
जे बिन बैठां न भाए ॥
शरह कहे कुछ शरम हया कर,
बन्द कर इस चमकारे नूं ।
इश्क कहे वह घूंघट कैसा,
खुल्लन दे नज़ारे नूं ॥

अर्थात् इश्क और शरह का झगड़ा हो गया । मैं इनके भ्रम मिटाता हूं और शरह के प्रश्न और इश्क के उत्तर कह सुनाता हूं । 'शरह' ने कहा कि मुल्ला के पास चल और कुछ दीन-धर्म की बातें सीख ले । 'इश्क' ने उत्तर दिया कि मेरे लिए एक शब्द प्रियतम ही पर्याप्त है अन्य पोथियों को तुम बन्द ही रक्खो । 'शरह' ने कहा कि पांच बार स्नान किया कर और मन्दिर जाया कर । इश्क ने उत्तर दिया कि यदि मन्दिर जाए बिना पूजा सम्पन्न नहीं हो सकती तो तुम्हारी पूजा झूठी है । 'शरह' ने कहा कि अरे नीच बन्द कर इस बेहयाई के चमकारे को और कुछ आदाब सीख । 'इश्क' ने कहा, शरम व हया का पर्दा कैसा, इस घूंघट को उठा कर अपनी बात कहो ।"

इस से स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में कर्ता तो कोई और हो जाता है और साधक तो केवल साक्षी रूप में रहता है । कर्त्ता स्वयं स्वामी, ईश्वर हो जाता है जिसे उसने अपने अन्तर में परम लक्ष्य मान कर स्थापित कर लिया है । वह तो केवल द्रष्टा मात्र रह जाता है । तब बरबस ही तो वह पुकार उठता है कि 'मेरा राम मुझे भजे, तब पाऊं विश्राम ।" सच ही तो, आंखों को लोनी लग जाती है, हृदय के समस्त तार एक मौन संगीत से झनझना उठते हैं— "मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई रे ।" एक बार क्रोध [illegible]वला राणा, कर में नंगी तलवार लिये आया और बोला, "बोल मीरा, तू अभी किससे बोल रही थी, तेरे सामने कौन था, तेरे साथ कौन था ?" प्रेम की वह सुदृढ़ मूर्ति मुस्काई और बोली— "राणा, मेरे सामने वाला तो अन्तर में समा गया और साथ वाला नेत्रों में आ बैठा, फिर मैं किसे दिखा दूं । तू ही देख ले न ।" विवश राणा अपने प्रासाद को लौट गया और मन्दिर में भक्ति की वह पूर्ण विकसित प्रतिमा मधुर रव में अलाप उठी'—

सेज सुखमना मीरा सोवे, शुभ है आज घरी ।
तुम जाओ राणा घर अपने, मेरी तेरी नाँहि सरी ॥

किन्तु नहीं भक्ति भी विकास की चरम सीमा नहीं । वरन् यह तो विकास में अभी भी एक बन्धन मात्र है । प्रेम की यह परिपक्व अवस्था, मानसिक-विकास के द्वार उन्मूलन कर देने का कारण बन जाती है । प्रियतम के सन्निकट अपना संदेश पहुंचा सकने में संदेश-वाहिनी अवश्य है किन्तु उस में अपने प्रेम अथवा भक्ति के अस्तित्व को भी लय-लीन करने पर ही हम जीवन के पूर्ण विकास के प्रकाश-पथ पर आ खड़े होते हैं । तब उसका अटल विश्वास कि प्रेमी साधक की चाल कभी थमती नहीं चाहे पर्वत सामने हो और भी दृढ़ हो जाता है । यह और बात है कि एक ओर लक्ष्य का आकर्षण उसे चैन नहीं लेने देता, उसे अपनी ओर खींचता

है तो दूसरी ओर सद्गुरू का कृपा-अंकुश उस पर सदैव रहता है जो उसके ऐहिक जीवन में दृढ़ता व गति प्रदान करता चलता है। किन्तु फिर भी उसकी प्यास तो कभी बुझती नहीं चाहे वह समुद्र के समुद्र सोख जावे और नियत कभी बदलती नहीं चाहे आध्यात्मिक-क्षेत्र में वह कितनी ही सैर करता चले। हृदय की चाह रूपी अग्नि कभी मंद नहीं पड़ती क्यों कि उसके द्वारा ही उसे विकास-पथ पर दृढ़ता प्राप्त होती जाती है तथा उसके द्वारा ही वह अनुभव के मोती (दशाओं के रूप में) सहेजता चलता है। कवि नीरज का सुन्दर विचार है कि—

एक दिन बैठा समुन्दर तीर पर,
सुन रहा था बुलबुले की मैं कथा।
एक कागज की दिखी किश्ती तभी,
थी खड़ी जिसमें पहाड़ों की व्यथा॥
बोझ इतना धर मुझे अचरज हुआ,
चल रही है किस तरह यह धार में।
हंस कहा उसने चलाती 'चाह' है,
आदमी चलता नहीं संसार में॥

यद्यपि विकास की इन मधुर स्मृतियों को भी एक दिन अपने लक्ष्य में अपनी आंतरिक दृष्टि के साथ ही साथ सदैव के लिए डूब जाना होता है क्यों कि बिना अपने मरे किसी ने स्वर्ग नहीं देखा। जहाँ एक ओर उसके प्रेममय जीवन की जलती विरह चिता में उसके जन्म-जन्मान्तरों से एकत्रित संस्कार रूपी धन का स्वाहा होता चलता है तो दूसरी ओर उसके लिए ऐसे जीवन का विकास होता चलता है जो कभी न जावे। वास्तविक जीवन का अर्थ व सम्बन्ध तो केवल शाश्वत अनंत अथवा अखंड गतिसे है क्योंकि मैंने तो ऐसी स्थिति में बैठने पर परम प्रिय श्री बाबू जी महाराज को लिखा था कि न मैं भूखी हूँ और न पेट ही भरा है। न मैं उघारी हूँ और न मेरा शरीर ढका हुआ है। न तो रोती हूँ, न हंसती हूँ। न आबाद हूं, न बरबाद हूं। न तो जीवन का पता है, न मृत्यु की बात है। पाप-पुण्य की राह कभी जानी ही नहीं। न कभी पैदा हुई और मृत्यु का भी प्रश्न नहीं। केवल इतना ही नही जहां मानव-जीवन के वास्तविक विकास की स्थिति अनुभव गम्य होती है वह तो स्थान ही दूसरा है। उसका तो रस ही अनोखा है। ब्रह्मानन्द कहने को कह लीजिये किन्तु वह भी उस से कहीं भारी है। किन्तु जैसा कि मैं उपरोक्त लिख चुकी हूँ बिना साथ ले चलने वाले के सैर का आनन्द नहीं मिलता। बिना मंजिल के भला कोई राह क्या चलेगा तथा बिना राह के राही को इच्छा ही क्या जागेगी और उसे जाग्रत करने के लिए चाहिए योग्य शिक्षक जो निज बालक की रुचि में निज पावन प्राण-शक्ति (Transmission Power) द्वारा विकास की स्फुरणा उत्पन्न कर दे। मैंने देखा है कि फिर तो वह चैन नहीं चाहता, विश्राम नहीं लेता जब तक कि निज लक्ष्य में लयलीन नहीं हो जाता जो उसके सूक्ष्म कारण को भी जला कर भस्म कर देती है और उसे अपने परिणाम में लय करती जाती है। उस शाश्वत स्थिति में लय करती जाती है जिसके लिए केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'जों है सो है।' यद्यपि यह अवश्य है कि विकास के इस अद्भुत सहज-मार्ग में जहां सद्गुरू की कृपा रूपी पुष्प बिछे रहते हैं, जहां शूल न हों यह असम्भव है किन्तु जैसा कि सर मोक्षकुंडम विश्वेश्वरैया ने भी स्वामी विवेकानंद जी के एक ही ऐसे प्रसंग का

स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि, "आत्मा की स्फूर्ति हमारे भीतर श्रेय की भूख जाग्रत करती है और इस जाग्रति के कारण हम जीवन के असली अर्थ को प्राप्त करने की दिशा में मार्ग के सभी विघ्नों का अतिक्रमण करते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाते हैं। इसके विपरीत जो कुछ भी नैराश्य आत्मग्लानि द्रोह द्वेष एवं भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली भावनायें हैं वे सब मन की बहकें हैं। यह अवश्य है कि बिना आध्यात्मिक-विकास की इस स्थिति को प्राप्त किए हम अपनी भावना द्वारा ऐसा मान लें किन्तु वास्तविकता तो वस्तु के तथ्य पर पहुँचने पर ही अनुभव होती है। तथा उसका आनन्द भी तभी अनुभव गम्य हो पाता है जो केवल प्रयास करने पर ही जाना जा सकता है। यद्यपि साँसारिक परिस्थितियां हमारे इस सहज से मार्ग में बाधक रूप में उपस्थित होती हैं जैसा कि श्री कुमार जी ने अपने 'सुख-दुःख श्रोत भी है' नामक लेख में लिखा है कि 'जीवन समरस है। सुख और दुःख जीवन के किनारे हैं। जिनके बीच यह हमारे भौतिक जीवन का प्रवाह बहता है। इस प्रवाह का ढाल कभी सुख-कूल की तरफ होता है कभी दुख-कूल की तरफ। लेकिन कथनी जितनी सरल सुखद है, करनी उतनी नहीं। दोनों के बीच की दूरी कभी आसानी से तय नहीं होती। योजना, संकल्प एवं अभ्यास में प्राण सींचने पड़ते हैं किन्तु मेरा विचार यही है कि ईश्वर और मानव जीवन समरस है। प्रेम कसौटी है जिस पर सुख-दुःख, मानापमान एवं जीवन-मरण तक कस कर पुजारी खरा उतरता है। कथनी, कथन सुखद है किन्तु करनी हृदय सुखद है। इसलिए योजना, संकल्प एवं अभ्यास में प्राण सींचने पर भी प्राणों में ताज़गी आती है और दोनों के बीच की दूरी आसानी से तय हो जाती है। विकास में दृढ़ता है जिसके द्वारा हम विषम से विषम परिस्थितियों का अतिक्रमण करते, मधुर स्मृति में डूबते-उतराते लक्ष्य की ओर अग्रसर ही होते चले जाते हैं। व्यक्तियों को बहुधा मैंने यह कहते सुना है कि हम गृहस्थी के झंझटों में पड़े भला ईश्वर की प्राप्ति क्योंकर कर सकते हैं। किन्तु जैसा कि परम पूज्य श्री बाबू जी ने लिखा था कि ईश्वर के दरबार में कोई बंधन नहीं। कोई नंगा हो, भूखा हो, बड़ा हो, छोटा हो, विरक्त हो अथवा गृहस्थ। कोई परवाह नहीं। बस केवल वह ईश्वर से प्रेम करना जानता हो। झंझट व बाधा केवल यही पड़ जाती है कि वह तो चाहता है परन्तु हमारी चाह में अनेकों अन्य चाहें घर किये रहती हैं। हम अंतर में पैठने के बजाय बाह्य-क्रियाओं में ही अपने को अटकाए रहते हैं। बजाय सुलझाने के हम और उलझाते चले जाते हैं। जो हमें चाहिये वह तो हमारे अंतर में है और हम उसे बाह्य संसार में ढूंढ़ते हैं। यह यद्यपि यहं अवश्य है कि संसार में रह कर ही संसार को जाना जा सकता है, विरक्त हो कर नहीं। गृहस्थी में रह कर ही दृढ़ वैराग्य प्राप्त किया जा सकता है। कर्म करते हुए भी उसके बंधन से मुक्त हुआ जा सकता है। सहित होते हुए भी रहित हो सकता है किन्तु एक ही दिशा लेने से नहीं। अंतर और बाह्य को विचार द्वारा समान ईश्वरीय-दृष्टि में रखते हुये ही हम कुछ कर सकते हैं। रंज कहता है कि मैं न रहूं तो राहत रंज हो जाए।' अंधेरा कहता है कि 'मैं न रहूँ तो रोशनी अंधेरा हो जाए।' किन्तु मैं कहता हूँ कि उन पर्दों को हटा लो तो तुम ही तुम रह जाओगे। हमारे अन्दर

शिथिलता तभी तक रहती है जब तक कि हम किसी सर्वोपरि महत्-शक्ति से सम्बद्ध नहीं हो पाते। एक छोटा सा दीपक हवा के झोंके से बुझ जाता है किन्तु जब वही ज्योति जंगल की घास को या सूखी पत्तियों को पकड़ लेती है तो सारे बन को जला देती है। उसी प्रकार जब हम किसी महत्-शक्ति अथवा सद्गुरु की शक्ति से प्रेम-रज्जु द्वारा सम्बद्ध हो जाते हैं तो फिर वह बातें जो सामर्थ्य के अभाव में बाधक प्रमाणित होती हैं, पोषक बन जाती हैं और जीवन को आध्यात्मिक-विकास के प्रकाश से परिपूर्ण बना देती हैं। मैं अपनी क्या कहूं मेरी तो सूरत अब केवल एक ही गति में विलीन हो गई है और मेरी गति तो अब यह है कि—

हौं चकई वा सिन्धु की, जहां न सूरज-चन्द्र।
रात-दिवस नहिं होत है, ना दुख, ना आनंद॥

इति

"ॐ" तत्सत्

श्री गुरवे नमः

सिद्धावस्था के व्यवहार तथा सेवा के नियम

(उत्सव सन् १९५७ ई० शाहजहांपुर)

इस शीर्षक में सेवक न तो उन महात्माओं के सम्बन्ध में कुछ लिखेगा जो ऊपर से आज्ञायें प्राप्त कर के काम करते हैं। और न उन महात्माओं के सम्बन्ध में कुछ लिखेगा जो अबोध बालकों की भाँति जगत् में विचरण करते हैं अथवा अपने शुभ गृहों में निवास करते हैं, यह दोनों परमात्मा के बहुत ही ऊँचे दर्जे के सेवक होते हैं और इनका लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्य बहुत ही ऊंचे दर्जे का होता है, परन्तु जन-साधारण को उसका पता लगना असम्भव होता है क्योंकि इनकी जगत् सेवा अप्रत्यक्ष होती है और बहुधा उसका परिणाम भी जगत में दीर्घकाल के पश्चात् प्रगट हो पाता है; यह दोनों प्रकार महात्मा नियमों के ऊपर उठे होते हैं, वेद इनके सम्बन्ध में मूक हो जाते हैं क्योंकि इनके मन ईश्वर के मन बन जाते हैं. वेदों के 'विधि व निषेध' केवल उन लोगों के लिये होते हैं जिनके मन अभी ईश्वर के मन नहीं बन सके हैं, शिथिल मन ईश्वर का मन बन जाता है, शिथिल मन मृतक-तुल्य होता है, यह मन केवल सतोगुणी ही नहीं होता, यह तो गुणातीत होता है, इस मन में खुदी होती ही नहीं ! अगर कोई ऐसे मन वाले को चेतावे या भड़कावे नहीं तो यह एक बड़े दीर्घकाल तक thoughtless condition में पड़ा रह जावेगा, आपके इस तुच्छ सेवक को एक इस प्रकार मन वाले महा-महात्मा के दर्शन परमात्मा की महा अनुकम्पा के कारण हुये हैं, मैं एक दफा उनके साथ अपने मन को बस में किये सात घन्टे लगातार चुप बैठा रहा परन्तु उनके जूं न रेंगी, अन्त में मैं तो घबड़ा गया और फिर उनसे कुछ बातें करना आरम्भ कर दीं, तब वे भी बातें करने लगे।

प्रिय भाई और बहिनों ! मैंने न जाने कितने साधू और फकीरों की चन्द घन्टों में ही जाँच कर डाली है परन्तु इन महात्मा के जांचने में मैंने अपने साढ़े तीन वर्ष खर्च किये तब इन्हें कुछ कुछ समझ पाया क्योंकि यह अगम्य है।

आप पूंछेंगे कि 'भाई यह महात्मा कौन हैं ? मैं निवेदन करूंगा कि यह महात्मा आप सब के साथ विराजमान हैं।

आप पूंछेंगे कि कुछ 'इनकी आंतरिक स्थिति के सम्बन्ध में तो बतलाइये ?'

उत्तर में इस सेवक का निवेदन है कि 'भाई ठीक २ तो मैं नहीं जानता परन्तु जो कुछ जान पाया हूं वह नीचे की पंक्तियों में लिखता हूं। आप बड़ी इज्जत के साथ श्रवण करें, ऐसा करने से आप को बड़ी प्रसन्नता होगी तथा आपके अन्दर श्रद्धा और विश्वास की बड़ी वृद्धि होगी।

श्री गुरू देव ने चिरञ्जीवी कस्तूरी चतुर्वेदी को बहुत से पत्र लिखे हैं, मैं उनमें से कुछ के उद्धरण निम्नांकित करता हूं इन पत्रों में आध्यात्मिकता की रूप रेखा तथा ज्ञान उपस्थित है, वे हिन्दू जाति

तथा आध्यात्मिकता के गौरव हैं, वे ईश्वर-भक्तों तथा ज्ञानियों के प्राण हैं, वे सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म के प्राप्त करने वालों के जीवन-सर्वस्व हैं और इस तुच्छ सेवक की आंखों के तारे हैं, इन पत्रों में हमारे आध्यात्मिकता के सम्राट ने कहीं कहीं कभी कभी अपनी Condition भी लिख दी है, वह अद्भुत है, वह अधिक अहंता वालों की बुद्धि के परे हैं, उसको जानकर हम लोगों की समझ में यह आने लगता है कि अभी हमको कितना ऊंचा उठना है और 'अहंता-नाश' शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है, केवल ग्रंथावलोकन करने से मनुष्य भाषण दे सकता है परन्तु जान कुछ भी नहीं सकता।

उद्धरण

'मेरे पोती हुई है, लेकिन मुझे इस बात का अहसास नहीं है कि मेरे पोती हुई है, फिर पोती पैदा होने की खुशी क्योंकर हो'

'Perfect इन्सान वह है कि जो Nature में जितनी बातें मौजूद हों या उससे पैदा हुई हों उन को Ignorant रहते हुये जानता हो, कोई इल्म या Science उससे न बचे, ज़रा कोई आँच दे दे तो उससे वही बातें कुदरती तौर पर निकलने लगें जो वह जानना चाहता हो, मैं हर समय बैठे या लेटे, automatic working किया करता हूँ'

'कोई मुझे गाली दे या मारे, उसका कोई असर मेरे ऊपर नहीं होता, मुझे बुरा लगे भी क्यों क्योंकि मैं इन्सान हूँ, तो केवल मिनट या दो मिनट के लिए और फिर जैसे का तैसा'

'मेरा हाल यह है कि प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त भी कुछ (बहुत कम) प्रसन्न हो जाता है परन्तु, मुझे यह अनुभव नहीं होता कि किसकी प्रशंसा हो रही है या कौन प्रसन्न हो रहा है'

'मैं जब बोलता या लिखता हूं तो मैं यह नहीं जानता कि कौन बोल या लिख रहा है परन्तु मैं सदैव Definit होता हूं इसलिये हर जगह Commanding tone ही मिलेगी, लोग इसे अहंकार समझ लें तो मजबूरी है।'

अब मैं आप सज्जनों से पूछता हूँ कि ऐसे महात्मा के लिये नियम हो ही कैसे सकते हैं जो ऐसा आपा-रहित होगा, जिसके कर्म automatic way में होते होंगे, जिसको अपने घर में अपने पोती होने का अहसास न होगा, जिसके ऊपर गाली खाने या पिटने का कोई असर नहीं होता, जो बोलते या लिखते समय यह भी नहीं जान पाता कि कौन बोल या लिख रहा है और जो अपनी प्रशंसा सुनने पर यह नहीं अनुभव कर सकता कि किसकी प्रशंसा हो रही है अथवा कौन प्रसन्न हो रहा है, ऐसा व्यक्ति निश्चय ही सदा-सर्वदा नियमों के ऊपर उठा रहेगा, मैंने तो भाई ऐसे किसी महात्मा की बाबत न कभी कहीं पढ़ा था और न सुना था, इन की तुलना तो इन ही से की जा सकती है। क्योंकि यह अनुपम हैं, इनकी मिशाल तो इन ही से दी जा सकती है क्योंकि यह बे-मिसाल हैं, यह तो भाई शायद Vacuum कहे जा सकते हैं, क्या Vacuum की कोई उपमा दी जा सकती है? कदापि नहीं, Vacuum की मिसाल तो Vacuum ही हो सकती है, आप चाहें तो इनको ज़िन्दगी में मुर्दा और मौत में ज़िन्दा भी कह सकते हैं, इन में सबकुछ है और कुछ भी नहीं है, जैसा प्रभु ने ऊपर स्वयं

कहा है यानी यह कि, यदि कोई इनको ज़रा सी आंच दिखा दे तो फिर इनके अन्तर से सब कुछ निकलना आरम्भ हो जायगा, वैसे Ignorant तो यह हैं ही।

ऐसा महात्मा निश्चय ही उपरोक्त दोनों प्रकार के महात्माओं का सरदार होता है।

अब आइये कुछ सिद्ध पुरुषों के सम्बन्ध में हम लोग थोड़ा सा विचार कर लें।

मैंने ऊपर 'सिद्ध पुरुष' उन संतों को कहा है जो ज्ञान-भक्ति-युक्त निष्काम कर्म तथा सेवायें किया करते हैं, यह ही गीता का 'कर्म योग' है, यह ही गीता-में वर्णित-'नैष्कर्म्म सिद्धि' है, मैं इस सिद्धि के प्राप्त करने वाले महात्मा को 'सिद्ध पुरुष' मानता हूं, हठ-योगियों को भी अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं, और वे उनका प्रदर्शन भी किया करते हैं, जैसे शीशे चबाकर खा जाना, ज़हर तक खाकर पचा जाना तथा ज़मीन के अन्दर महीनों गड़े पड़े रहना, एक निगाह से देखते ही दस-बीस आदमियों को बेहोश कर देना, अनेक रोगों को रोगी का शरीर छूकर अच्छा कर देना इत्यादि, परन्तु मुझे ऐसे लोगों से कोई वास्ता नहीं है और न मुझे ऐसी सिद्धियों की ज़रा भी परवाह है, मेरा हृदय तो सदाचार और आध्यात्मिकता का प्यासा है, बस इन चीज़ों के सिवाय और किसी तरफ़ देखना मेरे लिए हराम है या पाप है।

निष्काम कर्म योगी सिद्ध पुरुष या संत बड़े परोपकारी होते हैं यहां तक कि परोपकार उनका व्यसन होता है, बिना परोपकार किए उन पर रहा ही नहीं जाता, ऋषियों में यह चीज़ बहुत ज्यादा थी, सैकड़ों ऋषियों ने संसार के हित के लिए अनेक बार जन्म ले लिये थे और आज भी तैयार बैठे होंगे, ऐसे महात्मा नियमों के अनुसार जगत् की सेवा किया करते हैं, इनकी सेवा से लोगों को प्रत्यक्ष लाभ होता है, इसलिए यह लोग जगत में बड़े यशस्वी हुए और सदैव होंगे, यह सज्जन बड़े योग्य, बड़े विद्वान और परिश्रमी होते हैं, इनका सदाचार भी एक ऊंची चीज़ होती है, यह अनुभवी ज्ञानी होते हैं और स्वयं को समयानुसार सेवा के योग्य बनाते हैं, वे केवल ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के ही पाठक नहीं होते और न वह इधर-उधर ज्ञान पर भाषण ही देते फिरते हैं, आज-कल तो कुछ लोग गेरुवा कपड़े पहिनकर और दूसरों से ज्ञान सम्बन्धी बातें केवल सुन-सुना कर ही ज्ञान पर भाषण देना आरम्भ कर देते हैं, दिखावटी ज्ञानी श्री महाकवि तुलसीदास जी के ज़माने में भी बहुत थे, उन्होंने लिखा है कि—

'वाक्य ज्ञान अत्यन्त चतुर भव पार न पावै कोई'

यानी यह कि वाचक ज्ञानी तो बड़े २ काबिल देखे परन्तु ऐसा इनमें एक भी न था जो संसार-सागर को पार कर गया हो, खैर आज-कल के संसार के दिखावटी ज्ञानी और बनावटी भक्तों का रोना मैं कब तक रोऊँगा, मेरी निगाह में तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने से तो हिन्दू, ईसाई और मुसलमान वगैरा सब ही पतित होगये हैं, परन्तु सिद्ध पुरुषों के सम्बन्ध में ऐसी बातें नहीं कही जा सकतीं, उनकी संख्या बहुत कम है परन्तु बीज नाश नहीं हुआ है, कोई न कोई कहीं न कहीं ठीक आदमी होगा ही।

अब आइये कुछ सिद्ध पुरुषों के व्यवहार तथा उनके लोक-सेवा के नियमों पर एक दृष्टि डालें, वे नियम साधारणतया निम्न प्रकार के हैं:-

(१) अपने इन्द्रिय-निग्रह तथा मनोनिग्रह में कायम रहते हुये समत्व में स्थित रहना और समत्व में स्थित रहते हुये निःस्वार्थ बुद्धि से लोगों की सेवा करना।

(२) सब में एक ही आत्मा या अपनी ही आत्मा को सदा देखना और कर्मों के फलों की परवाह न करते हुये लोगों से स्वयं उद्विग्न न होना और भय, विषादादि द्वन्दों से सदा अलग रहना।

(३) सब से प्रेम रखना और ठीक सम्मति देना लोगों की पात्रता तथा अपात्रता, योग्यता तथा अयोग्यता को जान लेना और इस बात को ध्यान में रखते हुये कार्य करना।

(४) अपने लिये स्वर्ण और पत्थर को समान समझना और मानापमान की परवाह न करते हुये उत्साह पूर्ण रह कर सेवा करना।

(५) मनुष्यों की बुद्धियों तथा उनके मनों को उन के कर्तव्यों तथा ईश्वर की ओर मोड़ने का प्रयत्न करना, उनकी इच्छाओं को पुण्य-मयी तथा धर्मानुकूल बनाना।

(६) जिनका सुधार हो सकता हो उनके ही सुधार में प्रयत्न शील होना और जिनका सुधार न हो सकता हो उनसे अलहदा रहना, साधारणतया राक्षसी स्वभाव का परिवर्तन असम्भव माना गया है।

नोट—उपरोक्त नियम विरक्तों के हैं, गृहस्थ योगी भी जहां तक हो सकता है उन नियमों का पालन करते हैं परन्तु उनके लिये निम्नलिखित नियम एक और रक्खा गया है।

गृहस्थ योगी जहां तक बन पड़े प्रथम, दूसरे के क्रोध को अक्रोध से, उसकी अपने प्रति की हुई बुराई को भलाई से जीते, परन्तु यदि वह देखे कि दूसरा बड़ा निठुर आदमी है, किसी तरह मानता ही नहीं, तब योगी को चाहिये कि 'जैसे के साथ तैसा' वाली नीति का प्रयोग करे क्योंकि गृहस्थ का धर्म है कि अपनी तथा अपने घर वालों की तथा अपनी जायदाद की दुष्टों से रक्षा करे, आततायी को मारना धर्म है, दुष्टों का प्रतिकार धर्म है, योगी अपना कर्तव्य समझ कर दुष्टों के हमलों का निवारण करे और अपने हृदय में उनके प्रति वैर-भाव न आने दे, साधु होना और चीज़ है और नीची तथा कमीनी तबियत रखने वालों का स्वयं को शिकार बना देना और चीज़ है मेधावी धर्म पालन करने वाला होना और चीज है और मूर्खों की तरह हर समय किसी एक अच्छाई की टांग पकड़ कर लटके रह जाना और चीज है, यह सब ही मानते हैं कि 'हम को दूसरों के साथ ऐसा बर्ताव न करना चाहिए कि जो हमें अपने सम्बन्ध में प्रतिकूल जंचे' परन्तु यह बात भी भूलना न चाहिए कि जैसे आततायी को मार देने से अहिंसा धर्म में बट्टा नहीं लगता वैसे ही दुष्टों का उचित शासन कर देने से साधुओं की सब में एक ही आत्मा देखने वाली बुद्धि या निश्शत्रुता में भी न्यूनता नहीं आती, महाभारत ग्रंथ में एक जगह तो यह बतलाया गया है कि 'अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है उसके साथ वैसे ही बर्तने से न तो अधर्म होता है न अकल्याण' परन्तु, दूसरी जगह तो खूब ही कहा गया है और वह यह कि 'अपने साथ जो जैसा बर्तता है, उसके साथ वैसा ही बर्तना धर्म-नीति है, मायावी पुरुष के साथ मायावीपन और साधु पुरुष के साथ साधुताका व्यवहार करना चाहिये।'

उपरोक्त सब बातें ठीक तो हैं परन्तु जमाना देखते हुए, उसकी दिमागी तरक्की देखते हुये और विरक्तों के प्रचारों को देखते हुये मेरा आप सब भाई और बहिनों से यह नम्र निवेदन है कि हम सब अपने अन्दर खूब ही सहन-शीलता को बढ़ावें, जो काम करें वह ठंडे दिल से खूब सोच-विचार कर, धर्म समझकर, निष्कामता पूर्वक करें और निश्चय ही महाभारत-ग्रंथ-कथित विदुर जी के उपदेशानुसार प्रथम आचरण करें, उन्होंने निम्न कहा था।

'अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधुं साधुनां जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत् सत्येन चानृतम्॥

भावार्थ—दूसरे के क्रोध को अपनी शांति से जीते, दुष्ट को साधुता से जीते, कंजूस को दान से जीते और झूठ को सत्य से जीते। भाइयो! यह कदापि ठीक न होगा कि हम दुष्ट के मुकाबले में बड़ी जल्दी स्वयं भी दुष्ट बन जांय, बेईमान के मुकाबले में झट बेईमान बन जांय और झूठों के मुकाबले में तुरन्त ही झूठे बन जांय, हम सब एक आध्यात्मिक संस्था के सदस्य हैं, हमको जगत् में फूंक २ कर पैर रखना चाहिये, हमको यह सदैव याद रखना चाहिये कि हमारा एक पाप-कर्म कुल संस्था को बदनाम कर सकता है, एक मछली कुल तालाब को गंदा कर सकती है, हमारा एक झूठ और एक धोखे-बाजी अध्यात्मिकता को जनता में जलील करवा सकती है, याद रहे कि रूस देश के ईश्वर का नाम लेने और लिवाने वाले नालायक clergy-men और पादरियों को जनता ने क़तल कर डाला था और उनके दुराचारों और धन तथा मान की इच्छाओं से घृणा और क्रोध उत्पन्न हो जाने के कारण ईश्वर में विश्वास करना भी छोड़ दिया था, जिस संस्था के जैसे अनुयायी होते हैं वह संस्था वैसी ही समझी जाती है, यदि हम लोग ईश्वरी सद्गुणों को तथा पवित्रता को अपनाये रहेंगे तो लोगों में हमारे सम्बन्ध में 'नेक-ख्याली' पैदा होगी नहीं तो उलटा असर होगा, मुझे विश्वास है कि हम सब यह जानते हैं कि हम लोग इस संस्था में खिलवाड़ करने नहीं आये हैं, मुझे विश्वास है कि हम सब अपनी जिम्मेदारी को भली भांति समझे हुये हैं, मुझे विश्वास है कि हम सब इस संस्था में पवित्र बनने आये हैं, सही अर्थों में संसारारम्भ के समय के मानव बनने आये हैं, सदाचारी बनने आये हैं, दूसरों का ख्याल करने वाले बनने आये हैं, भक्त बनने आये हैं, निःस्वार्थी सेवक बनने आये हैं, इत्यादि। जब ऐसा है तब तो हमको अपनी कुटेवों, कुविचारों तथा मन के दोषों का परित्याग करना होगा, बद-मिज़ाजी को छोड़ना होगा, सहन-शील बनना होगा और सांसरिक दुःखों और सुखों को lightly लेना होगा, किसी ने खूब ही कहा है कि 'पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं' भाई! मिशन में तो यहां तक नियम न० ५ में बतलाया गया है कि 'Speak the truth treat miseries as divine blessings for your good and be thankful.'

हमारे मिशन में बहुत से भाई यह जानते हैं कि जमाना बदलेगा परन्तु यदि हमने भी अपने को न बदला और स्वयं को बदल कर इस महान् कार्य में सहायक न बन सके तो हमने किया ही क्या? और यदि जमाना तो बदल गया और हम लोग जैसे के तैसे ही बने रहे यानी हमारे स्वभाव जैसे

के तैसे ही बने रहे और पवित्र न बन सके तब तो वास्तव में हम हजार हजार लानतों के अधिकारी माने जायेंगे, हम सबको यह बात भलीभांति समझ लेना चाहिए कि अनेक कारणों से आज-कल आध्यात्मिकता कौड़ियों के मोल लुटाई जा रही है, ऐसा अवसर फिर हाथ न आवेगा, लूटिये और जुट कर लूटिये और लूटते २ कभी न अघाइये, परन्तु भाई! कौन सबसे बड़ा लुटेरा होगा? जो सरल, विनीत व पवित्र स्वभाव वाला तथा स्वयं को आध्यात्मिकता पर न्यौछावर कर डालने वाला भक्त होगा, खुदी वाले टापते रह जायेंगे, पूज्य कबीरदास जी ने क्या सुन्दर कहा है कि:—

'कबिरा यह घर भगति का, खाला का घर नाहिं,
सीस कटावे भुँय धरै, तब आवै एहि मांहि'

नतीजा यह है कि जो जितने अंशों में Self surrender कर डालेगा वह उतना ही बड़ा लुटेरा सिद्ध होगा, न Seniority से कुछ होगा न Juniority से कुछ होगा, परन्तु क्या भाई मेरे सार वस्तु के निवेदन कर देने से आप डर गये? डरिये कदापि नहीं. सींक की ओट पहाड़ होता है, जिसने लगाई ऐड़ वह खन्दक के पार था, हिम्मत बाँध लीजिये, कमर कस लीजिये, अपनी will को खूब मज़बूत बना लीजिये, आप स्वयं particle of divinity तो हैं ही, बस इतना कर लीजिये, विजय पताका तो आप के करकमलों में है ही, ईश्वर सदा सहायक है, जिन गुरू महाराज ने मुझ ऐसे मन्द और विद्या के अहंकार में डूबे हुए शिष्य को भी अपना लिया वह क्या आप सबको न अपनावेंगे श्री तुलसीदास जी के शब्दों में निवेदन है कि:-

'कौन तिनकी कहै जिनके सुकृत अरु अघ दोउ,
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ।

भाइयो और बहिनों! अपनी त्रुटियों तथा तुच्छताओं की याद आ जाने पर मेरा कलेजा मुंह को आ जाता है, मैं बिल्कुल ही सत्य कहता हूं कि मेरे ऐसे व्यक्ति की बांह पकड़कर उबार लेना इन ही का काम था, इतना कृपालु तथा क्षमा-शील महात्मा सम्भवतः कभी संसार में न जन्मा होगा, न कोई इस समय है और न सम्भवतः जगत में कभी होगा।

विनीत सेवक:-
रामदास चतुर्वेदी
B.A., LL. B.
(एडवोकेट)
लखीमपुर खीरी।

"पूजा के दो रूप"

(लेखक:- काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया, आसाम)

ईश्वर की पूजा अपनी अपनी रुचि के अनुसार हर मानव कुछ न कुछ किसी भी रूप में करता ही है। मगर पूजा या उपासना क्या चीज है इस बात को इने गिने ही भाई समझ पाते हैं। आजकल जो पूजा करते हैं यह अधिकतर स्वार्थ भरी पूजा है। एक नियम मानकर उसी बनी लकीर को पीटते रहते हैं। और यही कारण है कि पूरी जिन्दगी ७०-८० वर्ष की अवस्था तक पूजा करते करते बीत जाती है, मगर फिर भी अपने आप को पहिचान तक नहीं पाते। कोई तो इस भाव से पूजा करते हैं कि सुख सम्पति हमारी नष्ट न हो जावे, और कोई इस भाव से कि हमें सुख सम्पत्ति प्राप्त हो जावे कोई अपनी अच्छी तरक्की के लिए, एवं कोई गृहस्थ के झंझटों से घबराकर सुख शान्ति के लिये, तथा कोई अपने रोगों की निवृत्ति के लिए, कोई पुत्र प्राप्ति के लिए, कोई चीज खो जाने पर उसे पुनः प्राप्त करने के लिए ही स्वार्थ भरी पूजा करते हैं। क्या इसीको हम, पूजा, आराधना, उपासना कह सकते हैं ? क्या हमने उसे केवल एक लाखों करोड़ो की सम्पति से बने विशाल मन्दिरों व आश्रमों में ही बसा हुआ देखा है। ईश्वर को मन्दिर में समझना हमारी ठोस बुद्धि का ही परिणाम है, और शेष में अपने बनाये हुए दायरे के अन्दर ही पाते हैं। बहुत से वेषधारी साधु यह बतला कर भयभीत कर देते हैं कि ईश्वर को प्राप्त करना बड़ा कठिन है तथा ईश्वर प्राप्ति के लिए वेद शास्त्रों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करना तथा सन्यास लेने के पश्चात् ही ईश्वर दर्शन हो सकता है। मगर भाई प्राप्त किसे करना और क्यों, जब कि अपना स्वयं का ही स्वरूप पहिचान लेना ईश्वर दर्शन है। अपने स्वयं के स्वरूप को पहिचानने के लिए हमें सच्चे पथ-प्रदर्शक को साथ लेना होगा।

"पथ-प्रदर्शक" के प्रति श्रद्धा, विश्वास, प्रेम की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना प्रेम के उसमें लय होकर अपने आपको मिटा नहीं सकते, और जब तक लय नहीं होते हमारा अलग ही रूप बना रहता है कि देखने वाले दूध और चीनी अलग २ नामों से बोध करेंगे। मगर दूध में चीनी लय हो गई दो से एक बन गये एवं दूध मात्र रह गया। यही हाल हमारी असली पूजा का है, कि उस ईश्वर में लय होकर यह भी भुला दें कि, मैं किसे याद कर रहा हूँ। यही एक ऐसी पूजा है जो हमारे सब ढोंगों को उतार कर सच्चे पथ पर लाती है। अगर हम बनते हैं तो पग-पग पर मार खाते हैं, और जो बनते बनते बिगड़ जाते हैं (बिगड़ने का अर्थ अहंकार से अहंकार रहित हो जाना) वह सब कुछ पा जाते हैं। आजकल तो हम अपनी पूजा को सब कुछ समझ लेते हैं और यह भाव बन जाते हैं कि मैं बीस हजार रोज जप करता हूँ. प्रातः चार बजे उठता हूँ केवल दूध पर रहता हूँ, और इष्ट के दर्शन होते हैं ! मगर यह हमारी थोथी पूजा है, कि हम अपने अन्दर झांक कर भी नहीं देखते कि हम ठोसता से कितने सूक्ष्म बन पाये हैं। और हम जिसकी आराधना करते हैं उसका काल्पनिक चित्र बन जाता है, उसे इष्ट दर्शन समझ लेते हैं।

पूजा के अर्थ यह हैं कि अपने आत्मा के आगे जो आवरणों के पर्दे पड़े हुए हैं, उन्हें अपने सद्गुरू का सहारा लेकर हटाते चले चलें। जब सद्गुरू हमारे अहंकार के पर्दे को हटा देता है, तो अभ्यासी यही अनुभव करने लगता है कि सम्पूर्ण विश्व मेरा ही दूसरा रूप है, मैं ही सबों में हूं मुझ से अलग कुछ भी नहीं है।

सहज-मार्ग पर चलने वाले अभ्यासी अपने आप को दुनिया में फंसा हुआ भी यह अनुभव करता है कि मैं सब द्वन्दों से अलग हूँ और वह

निर्भय उस माया में विचरण करता है, जिसको हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

सहज-मार्ग के अभ्यासी की, अभ्यास करते २ यहदशा हो जाती है कि उसे कोई गाली देकर ये पूछे कि आप नाराज तो नहीं हो गये ? तब भी वह यही कहता है कि भाई मैं तो एक बेहोश मानव हूँ, नाराज वह होता है जो होश में हो। अगर उसे कोई नास्तिक कहता है तब भी वह निर्भय होकर यही कहता है कि मैं न नास्तिक हूं न आस्तिक, फिर क्या हूं यह भी नहीं जान पाता। अगर उसे कोई आस्तिक कहता है तो खुशी नहीं और नास्तिक कहता है तो परवाह (चिन्ता) नहीं।

सच्चा पथ-प्रदर्शक आंखों के रहते बे आँखों का बना देता है और उसकी यह दशा हो जाती है कि जैसे एक अन्धे के लिए मन्दिर, घर, शहर, जंगल सब एक ही हो जाता है। जहाँ भी जाता है, एक ही दशा रहती है और उस अभ्यासी के लिए जो भी कर्म करता है सब पूजा ही होती है। यह दशा सच्चे पथ-प्रदर्शक की सहायता से ही सुलभ हो सकती है। अपनी बनी लकीर पर चलने वालों की पूरे जीवन भर यह दशा बनी रहती है कि यह मेरा लड़का, यह मेरी माँ, यह मेरा भाई, यह रिस्तेदार यह अपना पराया। इस सीमित नजर को सर्व-व्यापी बनाना सद्गुरू का ही काम है जो अपनी आन्तरिक शक्ति से सच्ची आखें देता जावे और सच्चा रास्ता दिखाता ले जावे। ग्रन्थ शास्त्रों का अध्ययन करके वेष भूषा बना कर उपदेश देना सब जानते हैं, और वह यह समझने लग जाते हैं कि मैं विद्वान हूँ, सब कुछ जानता हूँ, मगर वह अपने आप स्वयं को ही नहीं जानता, तो कुछ नहीं जानता, और धिक्कार है हमारे ऐसे ज्ञान को। वह उपदेश देकर दूसरों के मार्ग को तब तक सही नहीं बतला सकता जब तक कि वह कोई भी रास्ते से स्वयं कभी चला न हो, और अपने दिल को विरह अग्नि में तपा कर कभी साफ न किया हो। मगर अभ्यासी कभी उपदेश देना नहीं जानता। उपदेश वह दे, जो जिन्दा हो, मरे हुए के मुख में तो आवाज़ नहीं, वह उपदेश कहां से दे। अभ्यास ही एक ऐसी चीज है जो अपने प्रथ-प्रदर्शक के बतलाये हुए मार्ग पर चल कर अनेकता से एकता पर आ जाता है और अपने पराये का भेद मिटा देता है। हम मन्दिर में समझे हुए भगवान को, कहीं जाते हैं तो मन्दिर में ही छोड़े जाते हैं और सांसरिक कामों में अपनी बुद्धि खटखटाने लगते हैं और दुनियां के दुख, सुख, जाल, जंजाल एवं भय इसलिये लगते है कि उस ईश्वर को तो मन्दिर में ही छोड़ आए, अब हमारे साथ हमारी द्वन्द्वता की बुद्धि ही काम देती है, और उस ईश्वर को सर्वव्यापी नहीं समझते ! पथ-प्रदर्शक के प्रति हमें (Self surrender) आत्म समर्पण की हालत बना कर (Constant Remembrance) लगातार उसका स्मरण सब कुछ करते हुए भी करते रहें, यही सबसे बड़ी पूजा है। यही अपने आप स्वयं को पहचानने का सहज तरीका है।

आध्यात्मिक पथ पर चलने से पहले सच्चे पथ-प्रदर्शक को खोजो और सच्चा पथ-प्रदर्शक प्राप्त हो जाने के पश्चात् सत्य पथ पर चल कर अलबेले मार्गों का अनुभव करते हुए चलते चलो, जहाँ तक कि ह में जाना है।

पाठक गणों से इस सेवक की प्रार्थना है, कि इस टूटी, फूटी, टेढ़ी, मेढ़ी भाषा को लेख न समझें यह मन के उठते चलते फिरते भाव थे जो लिख दिये त्रुटियों के लिए क्षमा करें।

——:०:——

योग के विषय में कुछ बिखरे विचार

(लेखक:- श्री रघुनन्दन प्रसाद, "इन्द्र" लखीमपुर खीरी)

योग का अर्थः—

योग संस्कृत भाषा का शब्द है और युग धातु से बना है। युग के अर्थ जोड़ने के हैं। इसलिये जो भी वस्तु या क्रिया मनुष्य को अपने अभीष्ट से जोड़ती है, उसको योग कहते हैं। हम शारीरिक शक्ति लाभ करना चाहते हैं, उसके लिये व्यायाम करते हैं, इसलिये व्यायाम एक योग है, रुग्णावस्था में हम वैद्य की बताई हुई औषधियों को मिलाकर सेवन करते हैं, इसलिये वैद्य का नुसखा भी एक प्रकार से एक योग है। इसी प्रकार जो भी क्रिया हमें अपने अभीष्ट और ध्येय से जोड़ती है वह योग है।

तो फिर क्या योग और साधना में कोई अन्तर नहीं है? हां वास्तव में तो कोई अन्तर नहीं है, परन्तु जिस रूप में हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं उस रूप में उनके अर्थों में अन्तर अवश्य है। एक कुम्हार एक मिट्टी का बर्तन बनाना चाहता है, और इसके लिये उसको चाक की आवश्यकता है, परन्तु चाक कुम्हार का साधन है, कुम्हार का योग नहीं। परन्तु कुम्हार ने जो कुशलता चाक द्वारा बर्तन बनाने की प्राप्त कर ली है, वह उसका योग है। इस लिये कहा गया है कि जिसके द्वारा कर्म के करने में कुशलता प्राप्त की जाय, उसका नाम योग है।

इस प्रकार मनुष्य जो दक्षता, कुशलता और प्रवीणता अपने में प्राप्त कर लेता है वह तो सब उनको अपने अभ्यास और योग ही से प्राप्त होती है। बिना आन्तरिक क्षमता के साधन होते हुये भी कर्म के सम्पादन ठीक प्रकार से नहीं हो सकते। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि साधन के अभाव में क्षमता भी कर्म के सम्पादन करने में असमर्थ है। कर्म के ठीक ठीक होने के लिये योग और साधन दोनों की आवश्यकता है। साधनों को जुटाना और उनकी उन्नति करना विज्ञान का काम है, और साधक की उन्नति करना योगशास्त्र का विषय है। इसलिए विज्ञान और योगशास्त्र में कोई परस्पर का निरोध नहीं है, किन्तु वह एक दूसरे की पूर्ति करते हैं, जैसे हमारे दाहिने और बायें पैर में कोई मतभेद नहीं है, और दोनों एक दूसरे की सहायता करते हैं, और हम एक को पृथ्वी पर जमा लेते हैं, तभी दूसरा आगे बढ़ा सकते हैं।

योग का दूसरा अर्थः—

एक अर्थ तो योग का यह बताया गया है कि जो साधक को साध्य तक पहुँचाने में अथवा उसको प्राप्त करने में सहायता प्रदान करे वह योग है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक दूसरा अर्थ भी योग शब्द का है। और वह है समन्वय का। हमारी शक्तियाँ सब बिखरी पड़ी हैं। कभी २ एक शक्ति दूसरी शक्ति की सहायता करती है और उसे बल प्रदान करती है, परन्तु अधिकतर देखा जाता है कि एक शक्ति किसी एक दिशा में हमको खींचती है और दूसरी शक्ति उसकी विपरीत दिशा में। इन शक्तियों की आन्तरिक शक्ति परस्पर के संघर्ष में चलती रहती है और यह संघर्ष तभी दूर हो सकता

है, जब इन परस्पर विघाती और विरोधी शक्तियों को उनकी सीमा के अन्दर रखा जा सके और फिर उनमें समस्वरता उत्पन्न की जा सके। प्रकाश की किरण फूटकर बैगनी, नीले, पीले, लाल, हरे इत्यादि सात रंगों में विभक्त हो जाती है। इस प्रकार होने में उसका प्रकाश कम हो जाता है, और पुनः प्रकाश उत्पन्न करने के लिये उन सब किरणों को एक ही केन्द्र पर लाना पड़ता है। यही हाल योग क्रिया का भी है, यह सब बिखरी हुई किरणों को एक केन्द्र पर लाकर फिर उन बिखरी किरणों से प्रकाश उत्पन्न करती हैं।

इस दूसरे अर्थ में योग के मानी हैं बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत करके उनका संग्रह करना। साधारणतया हमारी शक्तियों का प्रवाह अपने केन्द्र से बाहर की ओर होता है। और जितनी दूर बाह्य जगत में प्रसार हो जाता है उतना ही संघर्ष और परस्पर का विरोध भी उनमें दृष्टिगोचर हो जाता है। परन्तु जब वे केन्द्रोन्मुखी हो जाती हैं तो वह संघर्ष और विरोध कम हो जाता है, और यदि उनकी गति केन्द्र तक हो जाय तो वह संघर्ष और विरोध समाप्त हो जावे।

विशेष योगः—

कर्म योगभार अनेक हैं, और उन्हीं के अनुसार उसकी कुशलता भी विविध प्रकार की है। एक गायक को सफलता के लिये जिस कुशलता की आवश्यकता है, एक चित्रकार को उससे चित्र कुशलता चाहिये। बहुत से अन्धे व्यक्ति अच्छे गायक देखे गये हैं, परन्तु यदि कोई चित्रकार दुर्भाग्य-वश अन्धा हो जाय तो उसकी कला ही समाप्त हो जावेगी। इसी प्रकार जिस कुशलता की एक सैनिक को आवश्यकता है उससे कलाकार का काम नहीं चलता।

इसलिये जब कर्मों की कुशलता अनेक प्रकार की है, तो उनके लिये योग भी उतने ही प्रकार का होना चाहिये। प्रत्येक कार्य के लिये एक नया, यह सब विशेष योग हैं। और कार्य के सम्पादन करने के लिये उनकी आवश्यकता भी है, और अपने अपने विशेष क्षेत्रों में उनकी उपयोगिता भी है।

समान्य योगः—

परन्तु इन विशेष योगों के अतिरिक्त एक समान्य योग भी है। जिसकी आवश्यकता सभी को है। परन्तु न तो योग-साधना का यह अर्थ है कि साधनों की ओर से उपेक्षा की जाय, और न समान्य योग का यह अर्थ है कि मनुष्य विशेष योग की ओर उसे जिसकी उसके जीवन के लिये और उस कर्म के लिये जो अपने अपने सिर पर ले रखा है उपेक्षा की जाय या उसकी ओर से लापरवाही वर्ती जाय।

फिर भी जैसे विचित्र प्रकार के पौधों को अपने अपने विशेष खाद्य पदार्थ की आवश्यकता होती है। परन्तु जलवायु और प्रकाश की आवश्यकता तो सभी को होती है। इस प्रकार विशेष योग का अभ्यास करते हुए भी एक समान्य योग की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को रहती है।

यह समान्य योग सब विशेष योगों का आधार भूत है। इस समान्य योग की नींव पर ही विशेष योगों की अट्टालिकायें खड़ी की जा सकती हैं। यदि यह समान्य योग न हो तो विशेष-योगों के महल हवा में खड़े नहीं रह सकेंगे, और मानसिक भूकम्पों के स्पर्शमात्र से ही वे धराशायी हो जावेंगे।

इसलिये जब हम योग के विषय में बातचीत करते हैं तो अभिप्राय इसी समान्य योग से समझना चाहिये। विशेष प्रकार के योगों से नहीं जो केवल कर्म विशेष के लिए उपयोगी हैं।

समान्य योग के अन्तर्गतः—

जब किसी काम को हम करते हैं, तो उसके पीछे तीन शक्तियों का सहयोग होता है। हमारी इन्द्रियां जिनके द्वारा वह काम सम्पन्न होता है, हमारा मन जो भावना उत्पन्न करके हमें प्रेरणा प्रदान करता है और हमारी बुद्धि जो उस काम की कर्त्तव्यता के विषय में निश्चय करती है। हमारी बुद्धि से हमारे विचार बनते हैं, उन विचारों से हमारे मनोभाव बनते हैं; और मनोभावों से हमारी इन्द्रियों और हमारे शरीर को काम करने की प्रेरणा मिलती है।

सम्यक योग के लिये आवश्यक यह है कि हमारी इन्द्रियों, हमारे शरीर, हमारे मन और हमारी बुद्धि तीनों योगस्थ हों। यदि कहीं भी योग में कमी रह गई तो कमजोरी उसी स्थान से प्रवेश करने लगती है, जैसे कि शीशम की लकड़ी चाहे सब पक्की हो, परन्तु यदि कहीं पर जरा सी कच्ची रह गई तो वहीं से घुनने लगती है।

इन तीनों प्रकार के योगों को हम कर्म-योग, भाव योग, और ज्ञानयोग कह सकते हैं। यदि हमारे ज्ञान में कच्चापन है, तो वह कच्चापन हमारे भावों में भी छलकेगा और फिर हमारे कामों में भी प्रकट होगा। इसीलिए यदि हमारे भावों में कच्चापन रह गया है तो वह हमारे कामों की भी दूषित कर देगा भाव योग का ही दूसरा नाम भक्ति-योग है।

पूर्ण और अपूर्ण योगः—

पूर्ण योग में सब प्रकार के योगों का पूर्ण समन्वय हो जाता है। कर्म-योग, भाव-योग और ज्ञान योग अपनी पूर्णता को पहुंचा कर एक रस और समस्वर हो जाते हैं।

योग में बिखरी शक्तियों के केन्द्री-करण से एक शक्ति उत्पन्न होती है, और वह शक्ति चाहती है अपना प्रवाह और प्रसार, यदि हम उसके प्रवाह और प्रसार का मार्ग अवरुद्ध कर देंगे, तो वह शक्ति केवल निर्बल और क्षीण ही नहीं होगी, हानिकारक भी हो सकती है। योग-मार्ग में साधकों में शक्ति तो पैदा हो जाती है। परन्तु उसके प्रवाह का मार्ग नहीं मिलता, तो वह अपने भूकम्प से अपने केन्द्र स्थान को ही तहस-नहस कर डालती है।

योग का आरम्भः—

यह सत्य है कि बिना पूर्ण कर्मयोग के पूर्ण भक्ति-योग नहीं हो सकता और बिना पूर्ण भक्ति-योग के पूर्ण ज्ञान-योग नहीं हो सकता, और साथ साथ यह भी सत्य है कि पूर्ण ज्ञान योग के प्राप्त होने पर पूर्ण भक्ति-योग और पूर्ण भक्ति योग के प्राप्त होने पर पूर्ण कर्म-योग आप ही आप प्राप्त हो जायेगा। परन्तु यह बात केवल अर्थ सिद्धांत की दृष्टि से तो ठीक है परन्तु व्यवहार में ठीक २ नहीं उतरती क्योंकि व्यवहार में पूर्णता कहीं भी दिखाई नहीं देती।

ज्ञान-योग के द्वारा जो योगिक शक्ति उत्पन्न होती है, उसका स्वाभाविक.....भाव की सृष्टि में है, और भाव अथवा भक्ति द्वारा जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका प्रवाह कर्म सर्जन की ओर है। जब

ज्ञान का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है और उसके द्वारा भाव की सृष्टि का काम बन्द हो जाता है तो उससे एक ज्ञानवाद का जन्म होता है जो मनुष्य में माया-वाद और मिथ्या-वाद की वृत्ति उत्पन्न करता है। ज्ञान हिमालय के ऊपर जमे हुये बर्फ के समान है। उससे एक ठिठुरन सी उत्पन्न होती है। परन्तु वही बर्फ जब भक्ति की गङ्गा में प्रवाहित होने लगती है तो असंख्य पशु, पक्षी और मनुष्य उसके जल से अपनी प्यास बुझा लेते हैं। और वही भाव की गङ्गा जब कर्म क्षेत्र में उतरती है, तो अपने किनारों को सींचकर धन धान्य की उपज का साधन बन जाती है। परन्तु यदि भाव के प्रवाह का मार्ग अवरुद्ध है तो वही भावुकता और पूजा बन जाती है। इस प्रकार कर्म का स्वाभाविक प्रवाह विश्व-सेवा की ओर है। परन्तु यदि वह स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है, तो उससे रूढ़िवाद और पाखंड की उत्पत्ति होती है। शक्ति की उत्पत्ति के साथ उसका प्रवाह होना परमावश्यक है। यदि शक्ति उत्पन्न हुई और उसके प्रवाह का मार्ग न मिला तो इससे बहुत सी बुराइयां पैदा हो सकती हैं।

कर्म भाव और ज्ञान एक दूसरे से मिश्रित हैं। एक के योग का प्रभाव अन्य दोनों पर दृष्ट अथवा अदृष्ट रूप में पड़ता ही है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि एक की प्रगति के साथ अन्य दोनों की प्रगति सम्बद्ध है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये कि हमने एक बटलोई में चावल और पानी भर कर उसको चूल्हे पर चढ़ा दिया, और नीचे आग जला दी। इस आग जलाने का परिणाम यह है कि पानी गर्म हो जावेगा और चावल उसमें पक जावेंगे।

फिर भी व्यवहार में सचेतन रूप से प्रारम्भ में एक को लेकर चलना ही होगा। चाहे वह कर्म हो अथवा भाव व ज्ञान हो। योग के पर्याप्त परिपाक हो जाने पर शेष दोनों क्रमशः अपने आप अचेतन रूप से आप सिद्ध होते जावेंगे। कर्म-योग, भक्ति-योग और ज्ञान-योग का अन्तर केवल सचेतन प्रारम्भ का है। यह सम्भव नहीं है कि कर्म के परिपाक होने पर भक्ति का उदय न हो, और यह भी सम्भव नहीं है कि भक्ति के परिपाक होने पर ज्ञान का उदय न हो।

केन्द्री करण और विकेन्द्री करण :-

योग की दो गतियाँ होती हैं। जो एक बाहर से भीतर की ओर, और दूसरी भीतर से बाहर की ओर। जो बाहर से भीतर की ओर खींचने की गति है उसको केन्द्रीय करण कहते हैं, और जो अन्दर से बाहर की ओर फेंकने की गति है उसको विकेन्द्री करण कहते हैं।

केन्द्री-करण और विकेन्द्री-करण यह दोनों गतियां साथ २ चलती हैं। जैसे ही आत्म-तत्व का केन्द्रीकरण होता आता है वैसे वैसे विषयों के मल का विकेन्द्री-करण होता जाता है। जब विषयों का मल पर्य्याप्त मात्रा में हो जाता है, तो अन्तर की आत्मा-ज्योति बाह्य जगत की ओर जाती है और उसको ज्योतिर्मय कर देती है। फिर वह विषयों के अधिकार से मुक्त होकर, विषयों पर अपना अधिकार कर लेती है। इस आत्म-ज्योति की बहिर्गति से नव निर्माण होता है, नव सृष्टि होती है। परस्पर के सारे विरोध मिट जाते हैं और जो काम इस आत्म ज्योति के निरीक्षण और नियन्त्रण

में होता है उसमें एक समस्वरता आ जाती है। उस से एक हितैषणी कल्याणकारी और सर्व मङ्गल मई धारा प्रवाहित हो उठती है।

योग और साम्यः—

केन्द्रीकरण से जो बात पहले पहल सिद्ध होती है, वह समता है। पतञ्जलि के जो योग सूत्र हैं उनमें केन्द्रीकरण के ऊपर विशेष जोर दिया गया है, और वह मार्ग दस नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण और ध्यान से ऊपर उठता हुआ समाधि में समाप्त होजाता है।

यह समाधि वास्तव में व्यष्टि की समष्टि में लय हो जाने का नाम है। ·····लय हो जाने से सारे द्वन्द मिट जाते हैं, और एक समरसता और समस्वरता उत्पन्न हो जाती है, और विषमता मिट जाती है। परन्तु यह समाधि अभ्यान्तरिक, आत्मिक, बौद्धिक, और मानसिक होती है। समाधि की अवस्था पर पहुँच जाने के उपरान्त व्यष्टि अपनी अभ्यान्तरिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, परन्तु यह उसकी वास्तविक उन्नति की पराकाष्ठा नहीं है। वास्तविक उन्नति अर्थात् वस्तु-जगत में तो साम्य का आरम्भ तब होता है जब वह ब्रह्मानन्द और समाधि के आनन्द के हिमालय से उतर कर गङ्गा के रूप में वास्तविक और व्यवहारिक जगत में अपने अधिकृत साम्य द्वारा सेवा और सर्जन के काम में लग जाता है।

व्यष्टि में योगी की सार्थकता उसकी सर्वोच्चता में है, समष्टि में उसकी सार्थकता सेवा और सर्जन में है। गीता के कर्म-योग का मार्ग इसी अवतरण का, इसी सेवा और सर्जन का प्रतिपादन करता है। और इसी प्रकार पतञ्जलि के योग मार्ग को पूर्णता प्रदान करता है।

बिना पतञ्जलि की योग-सिद्धि के कोई गीता के कर्म-योग का अधिकारी नहीं हो पाता। इसलिये पहली बात ऊर्ध्वगति प्राप्त करने की है, ऊर्ध्व-स्थान में स्थित हो जाने पर यही अवतरण का प्रश्न उठ सकता है। ऊर्ध्व गति में सेवा, सर्जन और कर्मों की गति अन्तर की ओर होती है, उसको अभिप्राय और प्रयोजन होता है, एक आत्म-शुद्धि का प्राप्त करना। अवतरण में उस आत्म-शुद्धि को उन्हीं सेवा, सर्जन और कर्मों के द्वारा बाह्य वस्तु-जगत और समाज के कार्यों से बिखेर दिया जाता है।

साम्य का रूपः—

साम्य का रूप सारे द्वन्दों से ऊपर उठ जाना है। वस्तु जगत के अनुभव द्वन्दात्मक होते हैं। मनुष्य के ऊपर गर्म और सर्द का प्रभाव पड़ता है, स्तुति और निन्दा का प्रभाव पड़ता है। आशा और निराशा उनको व्यथित करते रहते हैं इसी तरह वह और द्वन्दों के वशीभूत होकर दुःख और सुख भोगता है। परन्तु यह भोग का मार्ग चाहे वह दुःख का मार्ग हो अथवा सुख के भोगने का मार्ग हो, योग का मार्ग नहीं है। योग का मार्ग तो इन सब दुःखों और सुखों से ऊपर उठकर आत्म····· होने का मार्ग है।

योगी का आनन्द अपने भीतर से उबलता है, बाहर से उसमें प्रवेश नहीं करता। योगी अपने कर्म, सेवा और सर्जन के लिए कहीं बाहर से प्रेरणा भी ग्रहण नहीं करता। उसको अपने अन्तर से ही प्रेरणा प्राप्त होती है।

साम्य का रूप है अपनी आत्मा में परमात्मा का दर्शन, और वस्तु अलग तथा समाज में भी उसी

परमात्मा का दर्शन और इस नाते अपनी आत्मा का वस्तु-जगत और समाज में दर्शन । यह दृष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जब हम ..... आवरणों को वेधकर केन्द्र तक पहुँचने में समर्थ हो पाते हैं । समाज में यह आवरण छोटे बड़े, अमीर ग़रीब, जाति पांति, वर्ण, आश्रम, राष्ट्रीय और अराष्ट्रीय सङ्कुचित मान्यताओं के हैं । दृष्टि में इन कल्पित मान्यताओं का निराकरण करके, योगी को व्यवहार में फिर उनका प्रतिपादन करना पड़ता है । यह प्रतिपादन उनकी रूढ़िगत ठोसता को मज़बूत बनाने या सुदृढ़ करने में नहीं है; अपितु उनको नर्म और लचीला बनाने में है । समाज-साम्य पहली सीढ़ी है, इसके बाद दूसरी सीढ़ी है प्राणि साम्य, जगत में जितने प्राणी हैं, उनमें उसी एक साम्य का दर्शन किया जावे । साम्य के क्षेत्र को मानवता के क्षेत्र से भी और विशालतर बनाया जावे, उसके उपरान्त है बनस्पति साम्य, अर्थात् बनस्पति जगत के वृक्षों, गुल्मों, लताओं, फूल पत्तियों आदि में समतत्व को देखा जावे । इस प्रकार यह साम्य अनुभव का क्षेत्र योगी और साधक के लिए नित्यप्रति विशाल और गहरा होता जाता है ।

इस साम्य में पूर्ण रूप से प्रवेश कर जाने का नाम ही समाधि है । यह है अथाह की थाह पा लेना ।

सहज मार्ग के दस नियम

१ प्रत्येक भाई प्रातः सूर्योदय से पूर्व उठे, और संध्योपासना नियमित समय पर, जहाँ तक हो सके, समाप्त कर ले। पूजा के लिए एक प्रथम स्थान और आसन नियत करले। यथाशक्ति एक ही आसन से बैठने की आदत डाले, और शरीरिक व मानसिक पवित्रता का अधिक ध्यान रखें।

२ पूजा प्रार्थना से आरम्भ की जावे प्रार्थना आत्मिक उन्नति के लिए होना चाहिए, और इस तरह पर की जावे कि हृदय प्रेम से भर आवे।

३ प्रत्येक भाई को चाहिये कि अपना ध्येय अवश्य निश्चित कर ले, और वह यह कि ईश्वर तक पहुँच कर उसमें अपनी लय अवस्था प्राप्त करके पूर्ण स्थिति प्राप्त कर ले, और जब तक यह बात प्राप्त न हो जावे चैन आवे।

४ अपना जीवन साधारण बना लेवें, और वह ऐसा साधारण हो कि नेचर (आदि प्रकृति) से मिल जुल जावे।

५ सच बोले और प्रत्येक कष्ट को ईश्वर की तरफ से अपनी भलाई के लिए समझे, और उसको धन्यवाद दे।

६ सारे जगत को अपना भाई समझे, और सबके साथ ऐसा ही व्यहार करे।

७ यदि किसी से कोई कष्ट पहुंचे, तो उसका बदला लेने के इच्छुक न हों, वरन ईश्वर की तरफ से समझें और उसको धन्यवाद दें।

८ भोजन करने के समय जो कुछ मिल जावे, प्रसन्नता से पावें और ईश्वर की याद में भोजन करें, शुद्ध और पवित्र कमाई का ध्यान रहे।

९ अपना रहन-सहन और व्यवहार इतना सुन्दर बना ले कि जिसको देखने मात्र से ही लोगों को पवित्र आत्मा होने का भास हो, और लोग उससे प्रेम करने लगें।

१० यदि कोई अपराध भूल से हो जावे तो सोते समय ईश्वर को अपने सन्मुख समझ कर उससे दीनता की अवस्था में क्षमा माँगें और पश्चाताप करें और प्रार्थना व प्रयत्न भी करें कि भविष्य में कोई अपराध न होने पावे।

THE GOD

There has been a good deal of controversy over the question of the existence of God, perhaps from the very dawn of human intelligence. The real problem, to my mind, is not that of proving or disproving the existence of an Eternal Absolute but that of defining it in an adequate and satisfactory way.

Let us start with the stand taken by an atheist that there is no God. This is to say in mathematical terminology, that no positive or negative value can be assigned to it. Still it will have to be expressed by some sign. The mathematical sign for that which has no positive or negative value, is 'Zero' or 'Naught'.

Now let the atheist be faced with the question as to what exists. A consistent Agnostic can doubt and deny the existence of every thing, but not of his own self, viz of that which doubts and denies. This self or 'I' is expressed as an identity. Speaking again in mathematical terms, it may conveniently be expressed as 'one'.

Now look at the magical function of Zero. As you go on adding more and more of these to the right side of that which exists viz 'one' or yourself, it goes on swelling and multiplying itself. There is hardly a comprehensible limit to this expansion; And the Upanishads have rightly characterised this expanded Infinite as 'bigger than the biggest' (महतो महीयान्) And in achieving this, you have really done nothing except increasing your own value by keeping your God viz 'Naught' or 'Zero' to your right i.e. positive side.

Then start adding the Zero to the left or negative side of that which exists viz 'one' or 'yourself'. With the function of the negativating will i. e. the decimal point, the addition of more and more 'naughts' will gradually bring the 'one' itself closer and

closer to 'Zero'. Again there can hardly be a limit to this shrinkage of the 'self'; and the Upanishads have rightly characterised it as 'smaller' than the 'infinitesimal' (अणोरणीयान्). At the point of infinity the difference between that which exists for the atheist viz the 'self' or 'one' and that which does not exist for him viz 'God' or 'Zero' is hardly conceivable. It is just nominal.

Thus I believe the controversy over the question of God's existence is really a fake one. It really arises due to misconceptions with which the word 'God' has become loaded in the course of the history of various cultural groups of human being. The factor of blind and enthusiastic faith created and strengthened by individual miseries and cravings in different cultural contexts has added more and more confusion to the malady. Consequently, the man of reason and thought rightly feels disgusted at the very mention of the word 'God'. This attitude, however, is also equally responsible, far more, for the degeneration of man, in comparison to the factor of blind faith, which, after all, gives strength and assurance to man, however misguided.

The need, therefore, is to give up impulsive approach to problem, because it blurs the vision and thus impedes the progress of man towards his goal. May the man of reason and intellect rise up to the occasion and sift out the kernal of the real meaning from the chaff of confused dogmas.

SRI RAM CHANDRA JI
President,
S. R. C. Mission
SHAHJAHANPUR.

Trichina Poli
24—10—56

Dear Sir,

May I crave the hospitality of the following subject in answer to the questions put to Sri, Ram Chandra (President, Shri Ram Chandra Mission Shahjahanpur, U. P.) in your esteemed Patrika.

1. The role of Sanskars in the field of Spirituality:-

You have asked me something about the Karma Philosophy which has been discussed a good deal in the scriptures. I am replying to that question according to my own experience leaving aside what is given in the scriptures. What you sow, so you will reap is a proverb and an admitted fact. The past Karmas can not die out without one's undergoing their effect. Those who are thoroughly devoted to their masters and have developed in them Laya Avastha (Negation) sufficiently, are able to get rid of the intensity of Karmas. For a man of high calibre it is possible that he can prolong the period of Bhog (undergoing the effect) of an Abhyasi and also that he can bring the congenial atmosphere to finish the Bhog in the shortest period. But in that case the intensity increases. It will not be out of place if I say that the Guru also undergoes the effect of the Sanskars of his disciples. The Sanskars of those who are thoroughly devoted to the Master are automatically diverted to the Guru. So the Saint is the target of the world's sorrows and difficulties. Now the question arises as to why this happens with the Saint of high calibre. Such Saints have no Sanskars of their own and so to continue their existence they take up the Sanskars of others-they may be of their disciples or of the world in general. The thoroughly devoted disciples also end their Bhog in dreams. Moreover I also clean the Sanskars of my brothers as much as possible and in tune with nature.

The Sanskars can also be burnt but this is a new chapter in the annals of spiritual history. If a man dies and another man having such power wants to relieve the former of the cycles of rebirth then that power is utilised.

The power of burning Sanskars is extremely rare. It is a very special gift of Nature which is rarely bestowed, unless the state of oneness is attained one must not expect such rewards from Nature. Before attaining liberation the Sanskars are washed off in a way which can hardly be explained.

2. Transmission creates an internal Vibration and Peace and so any number of persons can be benefitted at one and the same time. Distance does not affect transmission. One who can read himself can feel the effect of transmission.

3. The chief doctrine of our mission is the love of fellow beings giving no room to hatred, pride and jealousy. We get something good from the Mahatmas and Saints, even if they have the religious study only, for our uplift but no knowledge of scriptures can help us in realisation. One should try to go internally deep under the guidance of some saint who has covered the distance and found its original source.

4. Your question as to whether liberation lies before or after Mahamaya is very complicated. Really all pass through it before they achieve liberation, some after their life and a few in their life time. It is not necessary that the aspirant may pass through all the circles given in the diagram at page 25 of "Reality at Dawn". These are meant for Yogic Attainments where one tends to get mastery over Nature. The souls which get liberation after life burrow their holes through them. Those who are destined to go through them full-fledged acquire knowledge of nature in their life.

5. Avtars are born with the condition of Mahamaya. The Grosser Maya is connected with the subtle spheres of the Central Region just as the dense smoke connects itself with the lighter smoke.

6. When the consciousness of body leaves the Abhyasi into soul, consciousness creeps in. That can be taken as the third stage of Laya Avastha.

7. There is but one God and we all evolve out of Him. The very idea when charged with the activities of the mind takes its shape of individuality. When the activities of the mind are over the Real thing begins to reign

and that covering created by us automatically disappears. So it does not merge in anything but begins to shine out in its real form.

8. Maharishi Ramana of course said that the spiritual Heart lies on the right side of the Heart and he means 'Hylem shadow' by it. The Sanskrit word for hylem shadow is Dahar. Dahar Vidya is also mentioned in the Vedas. I have also discussed in 'Reality at Dawn' that Hylem shadow is the place where the Godly post 'Dhruva' lies. It is the main artery of the Heart. We do not touch it generally unless a man is needed for divine work.

9. It is a wrong notion of the general public that the glow of halo may be noticed in dark nights. There is nothing glittering like an electric lamp but it is a kind of dim light which the face of man displays. It is very difficult to discern its actual colour. It displays three kinds of light, bright, red and dark and there are degrees too but it is in itself a different subject of physiognomy. A spiritual or pious man's halo is bright, that of a wrathful man red and that of a characterless man black.

10. When one reaches the high level of spirituality, his thoughts words and deeds are all rolled into one. If he utters words they will be as effective as transmission, similar is the case with thoughts and deeds. One who has this power at his command has no need of any Mantram. His very words are Mantrams and will produce effect better than them. What he says is the Shastric Injunction.

11. The Avtars gain liberation without doubt. But the gods and goddesses are not destined to have liberation. We die and become gods and similarly gods return in our from. When we find the temper and actions of a person akin to some deity we call him the Avtar of the particular deity.

12. A man can not come to the point of negation unless the consciousness of soul is lost, but to tell you the truth it is only after thousands of years that there appears such a personality. As for as my vision goes no body could achieve that condition since the world was born except my Master who by

His Grace made it possible for the men of devotional minds. He has improved the system in such a way that no time is needed to attain that stage.

13. My Head bows down to my Master only who is the only personality relieving me from the fetters. The God's and the Idols are still there but we owe nothing to them regarding our spirituality. I have faith only in my Master.

14. Unless the consciousness of the body is lost there is no hope for liberation. I think I am the first man to say that the consciousness of soul must be lost for higher attainments in spirituality.

15. In our system of spiritual Training one develops automatically a Vision seeing every one to be God or Master according to his faith or belief. This is a particular spiritual state. There are, of course, other steps from grosser to subtler forms. In the long run one reaches the state of Negation.

16. Praying to the guide if he is of a high calibre, in true sense, means praying to God.

17. The title of saints bestowed upon the christians who do not marry and devote their lives in the church to serve humanity. We have no concern with this word. The correct word is *Sant* for which I write Saint. Now I describe in short the inner condition of Sant. One whose senses have come under control, the individual mind has lost its wandering habits and he feels himself suspended abiding in Atma. The body consciousness too is lost.

18. Some people consider that the consciousness of both body and soul can not be lost. They put forward the reason that if a man does not feel the torture of red-hot iron then both these consciousness are gone. This thing is possible under the Hatha Yoga System that if you cut a limb of a body the man will not realise it. But these things will not bring about one's liberation. In this condition the pulse fails and the beatings of the heart stop. In our method this is not the condition but we remain above the consciousness of body, and soul. In other words we come to the state of perfect oblivion. We do not feel

heart of the Real Guru who is, as books say, ever in quest of such a disciple. It goes to show that it is really the inner cry of the disciple that calls the Guru to his door.

23. There are numerous stages of Ahankar from its crudest forms of pride and Vanity to its finest forms of individual identity or ego. Of course the identity of souls remain even upto Maha Pralaya, that is our individuality or ego remains in existence till that time. The very consciousness of Individuality is Ahankar in extremely fine form. But we have necessarily to free ourselves from the baser phases of Ahankar for our successful progress on the path of spirituality.

24. It can be only the internal state of spirituality which can throw its effect for the good cause.

(M. K. GANESAN)
Trichinopoly.
South India.

REAL YOGA

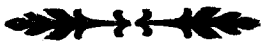

Yoga is the natural life of humanity. Naturally the solution of all human problems lies in it. Unfortunately Yoga has hitherto been mystified and kept private and secret by interested Yogins. Common man has great misconceptions about the 'word' Yoga. Many think that walking on water, flying in the sky and performance of such other miracles is Yoga, while others treat Asans as Yoga, and some others expect the Yogi to read the future and change the destiny. Still others imagine breath control activities in various forms as Yoga. Apart from this superficial and misleading notions about Yoga there is a very large number of persons who are afraid of it, for they are haunted by ascetic escapism, Forest, Solitude, Mountain caves and saffron robes while thinking of Yoga. These impressions are the result of diversion from pure Yoga by some people who in the name of Yoga began indulging in the performance of peculiar things for selfish gain, while others preached it to be a very difficult task, involving much penance, ascetic refusal and pragmatic denial. Obviously this has been the main cause of clouding the true sense of the word Yoga, discouraging people from practising it, which by and by resulted in the rise of various forms of religions, sects, divisions and disappearance of pure Yoga from the life of common man. Our ancient land which once enjoyed the pinnacle of glory became a centre of subjection, shame and humiliation through the disruption wrought in the pure Yogic life of the people.

To come to a little more detailed exposition of Yoga doctrine it may be pointed out that the word Yoga is derived from the Sanskrit root 'Yuj' which means concentration (samadhi) and this etymological meaning of the term is a sufficient index to the subject matter of the Yoga philosophy. It does not aim so much at presenting systematic exposition of metaphysi-

cal doctrines as at formulating an elaborate and systematic method of concentration which according to it is an essential factor in bringing about the liberation of the individual soul. Yoga is a psychic science, an accurate method of perfect living in tune with the Divine in us It is quite a simple matter and does not admit of any mystry or magic. To live in divine consciousness away from egoistic conciousness is Yoga. It is dynamic living in the Inner Divine and facing the problems of life with the victorious strength of soul. Yoga is not life immolation or hatred of existence. It is divine richness of life and fullness and fulfilment of the human life in life divine. Yoga is not running away from life and society considering existence as doleful dream and jugglery of illusion. It is not self immersion or extinction. It is self-possession, self-expression, self expansion and self-transendence. It is something sublime far beyond religious moralism and intellectualism of human invention. In the August Parliament of Religions. at Chicago, Swami Viveka Nand sparked out the eternal truth of Yoga. "You are souls, immortal spirits, free, blessed and eternal."

Yoga is as simple as God is. The intricacies in the Yoga philosophy are the result of divided mentality giving rise to various religions, sects, creeds, traditions, rituals, ceremonies class and race prejudices. Yoga lifts human vision to the pinnacle of cosmic vision where it unites with universal soul and does not find anything which divides man from man and man from the divine. It divinises life and heavenises earth. Yoga does not admit denial of exitence or ascetic barrenness. None need leave home and seak forest resort. Yoga is not non-work; it is skill in work. Action should be done as a pure sacrifice to the Divine will. All can remain conveniently at home and while performing all their legitimate duties can lead a real Yogic life, for what they seek by Yoga is not in hills and forests; it is within them nearer to them than their breath.

Traces of Yoga practices are found in Vadic period and mention of methods of concentration are to be found as early as the Krishna Yajur Veda, but the systematic develop-

ment of Yoga relates to the period of upnishads. As a matter of fact the upnishads mark the beginnings of pure Phoilosophical speculations in the history of Indian thought. The upnishads which predominently identify themselves with the Yoga are Sandilya, Yogatattua, Dhayanabindu, Hamsa, Amritnada, Varaha, Yogakundali, and Nadabindu. These upnishads disclose that yoga practices underwent many changes in the course of time and particular kinds of practices were associated with particular schools. However in Yoga Sutras of Patanjali we find a somewhat more systematic exposition of the Yoga Doctrine and an attempt to coordinate the different forms of Yoga practices which admitted of coordination. There are a number of systems of Yoga practiced by the ancient seers and siddhas : Mantra Yoga, Tantra Yoga, Laya Yoga, Hatha Yoga, Raj Yoga, Karma Yoga, Bhakti Yoga, Jnan Yoga, Samadhi Yoga etc. It is neither my intention to discuss the merits and demerits of each form of Yoga nor it is at all desireable to do so for the object is not to decry any form of practice as each one of them if followed in right earnest brings about some success. But Raj Yoga which gives dynamic energy and self-conquest is undoubtedly the most natural and the surest method tolead one to the highest flight of human approach in the realm of self realization. 'Sahaj Marg' is basically the same as Raj Yoga. The great founder of the system of Sahaj Marg has difinitely done an unparrelleled service to the humanity at large by introducing certain necessary changes in the system of practice of Raj Yoga, suited to the times, when human life has undergone a vast change, problem of baead and butter keeps engaged human mind all the time, political fermament holds out fears of upheavals and when scientific pragmatism, prying politics, suspecious national relations commercial competitions, intellectual vainity and vital egoism have all conspired to make this cosmos a chaos of fears and tears. The modifications made in Raj Yoga system are merely procedural, based on most scientific principles deduced after long and careful personal experience. The tremendous and

speedy progress which an abhyasi feels himself within a short time carries conviction with him of the efficacy of the system.

The Chief characteristic of the system is the transmission of yogic energy into the heart of an abhyasi. To most of our brethren the theory of transmission of enrgy sounds trash and the very talk of it to them becomes an object of ridicule. The fault is not theri's for the age-old system has been brought into oblivion. But a true seeker may still discover persons though very rare, possessing the power of transmission. The guide through it gives push to the Abhyasi and removes all hurdles and obstacles from his path in the upward march. So the Guru or guide who himself has reached the destination, which is nothing less than complete merger with the universal soul, is only under Sahaj Marg considered fit and capable to give training to an Abhyasi who is undoubtedly required to have faith, love, devotion To get such a Guru is the prime need and foundation stone for true aspirant for erecting the edifice of spirituality. In practice Sahaj Marg has simplified Raj Yoga by dispensing with the first two Sadhans viz. Vivek and Vairagya of Yoga. It starts from the third Sadhan-Dhyan (Meditation) and the experience has shown that all that is achieved by the practice of preliminary Sadhans is automatically achieved by practicing meditation. The difficult and hard breathing and physical exercises (Pranayam asan and Mudra) which are prescribed to a beginner under other systems of Yoga present a horrified picture before him and take away much of his precious time. Most of the aspirants give up practicing yoga during these stages in utter dispair. These exercises are mainly meant to make body supple and flexible. We acquire all these qualities in practicing meditation which side by side leads to mind control and conquest.

Meditation is the supreme secret of Yoga The mind is the restless entity· It wanders through the senses and records sense impressions which develop into concepts and become second nature. It is a subtle collection of preceptions and emotions It's going

out through the senses is the cause of bondage and misery. So the mind has got to be carefully tamed, controlled, subdued and conquered to the divine way of thought and action. A saint has beautifully said, 'Mind makes a man and mind control makes a saint.' Balanced mind means a balanced life is an aphorism of undisputed truth. Thus we have seen the absolute necessity of training, disciplining, conquering and ingathering the mind, which is possible by meditation alone. In our system of Sahaj Marg ingathered, felf fixed undisturbed meditation in the calm serene tranquility of the heart is the central Sadhana.

Various systems of Yoga prescribe meditation on different points. Commonly meditation has been recommended in the cereberal region or in the head prefereably at the root of the nose between eyebrows where 'Ajna' Chakra is located. In Sahaj Marg meditation is done on heart which effects tremendous achivements in incredibly short period. The reason is obvious. The heart is the central core of our being, the fulcrum of the body. It generates divine energy and and anymates all nerves. It is psychic dynamo of our being. Therein shines the radiant Divinity that sustains the universe of being. The heart contains 101 subtle nerves Amrit Nadi commands all of them and runs from heart to Sahsrara. The heart is also connected with lower chakras with subtle Nadis. So the meditation on heart as prescribed by our worthy Guru and President of our mission is most scientific and efficacious in as much it awakens the cosmic energy and radiates it in and out. Meditation in heart keeps activising other psychic centres just as the central spring of watch with full key keeps going its wheels and hands. It purifies the entire being through the various Nadis connecting the heart. Thus it would appear how simple and scientific the process is. But the help of a capable guide for complete success is indespensible. He saves you from pit falls, pushes you up, purifies you, cautions you and conditions you for highest divine conciousness and bliss.

In this small space neither it is possible to detail and describe the various progressive stages of self trans-

formation an Abhyasi passes through during the march or there can be an adequate expression of the peace and tranquility of mind which he enjoys at every stage, suffice it to say that practice under the guidance of a worthy Guru under the system of Sahaj Marg by a really sincere aspirant with faith and devotion makes him feel in a short time the progressive transfoimation of his self and vision and therefore I would like my brothrn all over the world to benefit themselves by taking to its practice; for in every body a secret hunger impels the soul to a mysterious goal. Yoga is not religion. It is a method to unite the individual soul with the Universal soul, from which it seperated and is restlessly impatient to reunite with it. Religion, creed and caste should therefore not be the heardless in the way of practising Yoga which is only a scientific approach to Reality. Sahaj Marg is the Pure and real Yoga. It is a Yoga of progressive transformation by the descent and radiation of Shudha Shakti, (Pure Almighty grace) in the purified instrument. Ascent by the intensity of aspiration and descent of Sudha Shakti by the purity of consciousness are the two secrets of this life transforming Yoga. In the Yoga individual is the centre of Universal energy and in his soaring flights Shudha Shakti opens to him the psychic centres releasing the concious power latent in them. Real Yoga scrutinises every spring, screw and nail of human mechanism, purifies them and sublimates the lower into the higher. It analyses every part of the body and transforms it step by step and ultimately fulfils life in the Divine. It is to this real yoga that I would earnestly and humbly invite the attention of all the true seekers of Reality for the achievement of ineffable bliss.

Bhairon Prasad Srivastava
VAKIL
Lakhimpur-Khiri
U. P.

श्री रामचन्द्र मिशन में सदाचार-सम्बन्धी नियम

१. अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिये, जैसे जलपक्षी (मुर्गाबी)। जब वह पानी के अन्दर से निकलती है, तो उसके पंख सूखे ही रहते हैं।

२. सत्संगी भाइयों से प्रेम। दैनिक बोल-चाल में मधुर तथा मीठीवाणी (शीरी-दहनी) होनी चाहिये।

३. मित्र और शत्रु को एक-सा जानो अर्थात् दोनों की भलाई चाहो।

४. पतिव्रता स्त्री की भांति केवल 'मालिक' के स्मरण को हृदय में स्थान दें और दूसरे का विचार आने से रोकें।

५. व्यर्थ बातें न की जावें। व्यर्थ वार्त्तालाप का परित्याग करें। उपन्यासों का पढ़ना बन्द कर दें। हृदय को अन्य के प्रेम में सराबोर न होने दें। मित्रता की वृथा धुन को छोड़ दें। केवल ईश्वर को अपना मित्र समझें। धार्मिक पुस्तकें, जिनमें ईश्वरीय प्रेम छलकता हो, पढ़ सकते हैं। गूढ़ फिलासफी उस समय तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं, जब तक आज्ञा न प्राप्त कर लें। यदि योग्यता हो तो सीधे ईश्वर (Direct), वरना मुझसे।

६. आपस का व्यवहार भाई-चारे का रखें। एक दूसरे की तकलीफ में सहायक हों।

७. श्रेष्ठ सदाचार इस मार्ग का जीवन है। वाह्य क्रियायें, जैसे संध्योपासना करना तथा घर के कामों को उचित रूप से करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

८. बच्चों के पालन-पोषण में संलग्न रहें, इस तरह पर कि दिल में दाग न आने पावे। अर्थात् उनका प्रेम न हो कि कष्ट-दायक हो।

९. स्त्री को अपना सहायक बना लें और समझ लें कि गृहस्थी की गाड़ी का एक पहिया हम हैं और एक वह।

१०. अपने मुहल्ले वालों से इस तरह का व्यवहार रखें कि वे अपने ही मालूम हों और वे भी उस को अपना ही समझने लगें। यही सदाचार सबके साथ बर्तना चाहिये।

११. सम्बन्धियों (रिश्तेदारों) से इस तरह का सम्बन्ध रक्खे कि उसकी रस्सी कटी हुई प्रतीत हो। हर दशा में उनके दुःख-दर्द में साथ दें और यह बात सबके साथ होना चाहिये। रुपये-पैसे के लेन-देन से बचे रहें। यदि उनकी आवश्यकता पड़ जाय तो उतने रुपयों से उनकी सहायता करें कि वापस न होने पर पछतावा न हो और सम्बन्ध में कमी न पड़े।

१२. अपने अफसरों से ऐसा व्यवहार रखें कि उसको यह न प्रतीत हो कि यह मनुष्य अपने कर्त्तव्य के नियम से गिरा हुआ है, और उस सेवा के बदले में जो कुछ मिल जावे, उसको ईश्वर की ओर से समझें।

१३. अपनी राय ऐसे स्थान पर न दें कि जहां यह समझ में आवे कि उसका कोई मूल्य न होगा। रोगी को औषधि (वैद्य या डाक्टरों के अतिरिक्त) बताना, ऐसी हालत में, जब कि उसका Serious case हो, नहींचाहिये, जब तक विश्वास न हो जाय कि यह हाथ से जा रहा है।

१४. किसी को भी अपने भेद की जानकारी न होने दे और न उसको यही प्रतीत हो कि यह भेद मुझसे छिपाया जा रहा है। साधारण जीवन उदासीनता (बेलौसी) के साथ व्यतीत करें। जहाँ तक हो सके, चिन्ता को निकट न आने दें और यदि आ भी जाय तो उसको ईश्वर की ओर से समझें और उसे धन्यवाद दें। यह अभ्यास और भी घरेलू बातों में किया जा सकता है।

१५. खाने-पीने के बारे में एक-रस बन जावें। शुद्ध कमाई का ध्यान रखें।

१६. अपने गुरू को सब कुछ दे बैठें (इससे मेरा मतलब रुपये-पैसे इत्यादि से नहीं है) और उस को अपना समझ लें। और व्यवहार के विषय में जो मानवता के नियम कहे, उसका पालन करें।

१७. सत्संगी भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये, जो प्रफुल्लता का हो और उनको उन्नति दे।

—श्री रामचन्द्रजी महाराज, प्रेसिडेण्ट (प्रधानाचार्य),
श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहांपुर (यू० पी०)

मुद्रक—गांधी प्रिन्टिंग प्रेस, शाहजहाँपुर।